प्रका :—
मंत्री—श्री ै -हितेच्छु श्रावक मण्डल,
रतलाम (मालवा)

❀ प्राप्तिस्थान ❀

१ श्री जैन हितेच्छु श्रावक ंडल ऑफिस रत ाम
२ श्री ै वाहिर मित्र मंडल नयानगर (ब्यावर)
३ श्री सेठिया जैन न्थाल बी ानेर (मार ाड़)
४ श्री जैन जवाहिर मंडल र पुर (सी. पी.)

मुद्रक:—
श्री जालमसिंह के प्रबन्ध से
श्री गुरुकुल छापाखाना, फतहपुरिया बाजार, ब्यावर में मुद्रित।

नुव दक की ओर से

जैनधर्म अहिंसाप्रधान धर्म है। मरते ए प्राणी ी प्राण-रक्षा करना अहिंसा का मुख्य अ है। रक्षा दया के लिए ही जैनागम की रचना ई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार मे कहा है :—

'सव्वजगजीवरक्खणादयट्ठयाए यणं गवया सुकहियं'

अर्थात्—जगत् के सम्पूर्ण जीवों की रक्षा प दया लिए भगवान् ने प्रवचन (आगम) फरमाया है। तः जीव-रक्षा रूप धर्म जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। किन्तु इ विषय वसर्पिणी काल के प्रभाव से कुछ वर्षों पहले भीषणजी ना के एक व्यक्ति हुए थे। यद्यपि उन्होंने पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज साहब (बाईस सम्प्रदायानुयायी) के पास दीक्षा ी थी किन्तु फिर मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से की ा विपरीत हो गई। इस कारण से पूज्य श्री ने उनको पने गच्छ से बाहर निकाल दिया। भीषणजी दया और दान मे पाप ी प्ररूपणा करने लगे और फिर इन्होंने तेरह पंन्थ नामक ए नवीन मत चलाया। इनके चौथे पाट पर जीतमलजी स्वामी हुए। उन्होंने इस मत को पुष्ट करने के लिए थली प्रा मारवाड़ी भाषा मे भ्रमविध्वंसन नामक एक ग्रन्थ बनाया ौर छ ढालें जोड़ीं तेरहपन्थी साधु इन्हीं ढालों को गा-गा थली प्रान्त की भोली जनता को अपने ाल मे फंसाने े

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज साहब इस समय में एक महान प्रभावशाली, प्रतिभा सम्पन्न, ज्योतिर्धर युगप्रधान आचार्य हुए हैं। उन्होंने जनता के उपकारार्थ और इनके भ्रमजाल को तोड़ने के लिए एवं सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए 'सद्धर्ममण्डन' और 'अनुकम्पा-विचार' ये दो ग्रन्थरत्न बनाये। इनके अध्ययन से थली प्रान्त की जनता का भ्रम दूर होकर शनैः शनैः वह सत्य मार्ग की ओर अग्रसर होने लगी। थली प्रान्त में अपने मत की किलेबन्दी को इस प्रकार ढहते देखकर ये भीषण-मतानुयायी तेरहपन्थी साधु गुजरात, काठियावाड़ और पंजाब आदि प्रान्तों में अपने पैर बढ़ाकर वहाँ जाल फैलाने लगे। तब वहां से सद्धर्ममण्डन और अनुकम्पा-विचार, इनकी मांग आने लगी। सद्धर्ममण्डन की भाषा तो शुद्ध हिन्दी है। अतः किसी भी प्रान्त की जनता को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु 'अनुकम्पा-विचार' नामक ढालों की पुस्तक पद्यमय होने से तथा उसकी भाषा मारवाड़ी होने से उसको समझने में कठिनाई आने लगी। इसलिए इस पुस्तक के भाव सर्व-साधारण जनता की समझ में सरलतापूर्वक आ जाय, इस बात को लक्ष्य में रखकर 'श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम' ने इसका गद्यमय अनुवाद करवाना निश्चित किया। तदनुसार मण्डल के आनद उपसभापति श्रीमान् बालचन्दजी सा० श्रीश्रीमाल ने इस पुस्तक का गद्यमय हिन्दी अनुवाद करने का कार्य मुझे सौंपा। अतः मैंने यह हिन्दी अनुवाद किया है। आशा है अब स्वर्गीय श्रीमज्जवाहिराचार्य द्वारा विरचित इस 'अनुकम्पा-विचार' की ढालों के भावों को समझने में किसी भी प्रान्त की सर्व साधारण जनता को मे कोई कठिनाई होगी।

श्रीमज्जवाहिराचार्य आज इस भूतल पर विद्यमान नहीं हैं। अतः उनके द्वारा शा ानुकूल रचित इन ढालों का अ - वाद करने मे कोई त्रुटि रह गई हो अथवा उनका आशय रूप से व्यक्त न आ हो या अर्थ विपर्या हो गया हो तो इसका उत्तरदायित्व मुझ (अनुवादक) पर है। इस विषय में कहीं भी सूचना मिलने पर आगामी आवृत्ति में उचित संशोधन कर दिया जायगा।

निवेदकः—

पं० घेवरचन्द ँरि 'ीरपुत्र'

न्याय-व्याकरणतीर्थ

जैनसिद्धान्तशा ी

बीकानेर



श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज ी

सम्प्रदाय ।

हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

का

★ संक्षिप्त परिचय ★



मण्डल की स्थापना सं० १६७८ आश्विन कृष्णा ११

—: वर्तमान पदाधि ारी :—

प्रेसिडेन्ट—श्रीमान् सेठ हीरालालजी साहब नांदेचा

वाइस प्रेसिडेन्ट—श्रीमान् बालचन्दजी साहब श्रीश्रीमाल

खजा ी—श्रीमान् सेठ वर्धीचन्दजी 'बरदभाणजी

स ालक—श्रीमान सुजाणमलजी साहब गांदिया

—: मण्डल की चालू प्रवृत्तियाँ :—

१—श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का सञ्चालन

२—श्री शिक्षा संस्थाओं का स ालन

३—श्री मज्जवाहिराचार्य के प्रवचनो का संग्रह

४—उक्त:प्रवचनो मे से साहित्य का सम्पादन व प्रकाशन

५—न्यायपूर्ण सरल एवं सत्य सिद्धान्तों का प्रचार

—: दस्य क्रम :—

५०१) एक साथ वा इस से अधिक देने वाले वंशपरम्परा के सदस्य।

१०१) से पांच सौ तक देने वाले आजीवन सदस्य।

२) देने वाले वार्षिक सदस्य, देते रहें वहां तक।

★ वक्तव्य ★

श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहिर ा ी महाराज साहब द्वारा रचित अनुकम्पा की ढालों का प्रकाशन पहले विविध आकार मे हो चुका है, किन्तु वह मूल ढालों तक ही सीमित रहा और ढालें मारवाड़ी भाषा मे होने से अन्य प्रान्त वाले पूरी तरह ढालो के भावों को समझ नहीं पाते इसलिये सं० २००३ मे बगड़ी की बैठक मे मण्डल ने इ ा हिन्दी में सरल भावार्थ कथाओ के अनुसन्धान सहित नया २ करा कर प्रकाशित करने का ठहराया था। तदनुसार नव ढालों में से पांच ढालें तो प्रथम भाग मे ापके कर-कमलों में पहुंच चुकी हैं शेष चार ढालें इस द्वितीय भाग मे हैं । जो ापके कर कमलों में प्रस्तुत हैं।

इस सम्बन्धी हमारा विशद वक्तव्य प्रथ भाग में ा चुका है अतः पुनरावर्तन की जरूरत नहीं है। छपाई आदि का खर्च वर्तमान मंहगाई के कारण अधिक बैठता है। किन्तु यह पु क जन साधारण को उपयोगी होने से इसका मूल्य लागत से भी कम र ा है और कमी श्री जवाहिर स्मारक साहित्य फण्ड से से की गई है। हम आशा रखते हैं कि जनता इसे अपनाकर जैन-धर्म के दया दान के मूलभूत सि ान्तों को यथावत् समझ कर लाभ उ ावे।

उ पुस्तक का नुवाद करने में श्रीमान घेवरचन्दजी ाहब बांठिया 'वीरपुत्र' ने जो सुन्दर सहयोग दिया है, उसके लिये हम उनके आभारी हैं। इत्यलम्

श्री ै हितेच्छु ाव - ,
ॉफिस—चॉदनी चौक रतलाम
मिति आश्विन पूर्णिमा सं० २००७ वि०

भवदीय :—
हीराला नांदेचा
प्रमुख—
न्द श्रीश्रीम
उपप्रमु —



जैन दर्शन में एक अनोखा पंथ

❀ संक्षिप्त परिचय ❀



श्री वीतराग प्रणीत, दया एवं दान के प्रतिपादक, जगत् के जीवों को दायक जैनधर्म के अन्दर भी एक वर्ग ऐसा है जो धर्म के प्रधान अ भूत दया एवं दान का मनमाना अर्थ करके विशुद्ध ज्ञानरहित भोले भद्र प्राणियों के हृदय में से प्राणि-रक्षा एवं प्राणि-पोषण के स्रोत को सुखा डा ता है।

दान मे तो अपने (साधु) सिवाय सभी को कुपात्र बता- भावुक जीवो के हृदय को कठोर बनाता है और दया का र्थ के स्वयं किसी प्राणी को न मारना—इतना ही सं चित करके दूसरों के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की रक्षा करने (बचाने) का निषेध करता है और मरते हुए प्राणियों को बचाने में पापोपार्जन का भूत बताकर दुख से पीड़ित आत्मा के प्रति हानुभूति एवं सद्भावना को भी रोकता है। ऐसा पन्थ-समाज इस र्यावर्त्त देश का भारी अहित करता है। इस मत के अनु- यायियो को जिनके प्रबल मिथ्यात्व मोहनीय का उदय है, ऐसे गुरु ों ने मारवाड़ी भाषा मे कुछ ढाले बनाकर तथा "भ्रम- विध्वंसन" जैसे ग्रन्थ बनाकर उसमे मनगढ़न्त मन्तव्य एवं तर्क कायम कर सच्चे श ीय ान से वे मुमुक्षुओ को वंचित रखते है। इनके मन्तव्यों का संक्षिप्त दिग्दर्शन इस प्रकार है जो किसी ि ान्त से नहीं ाता और जन-साधारण भी जिनको पसन्द नहीं करता। यथा तेरहपन्थियों का कथन है :—

१—जैन ों मे अहिंसा को धर्म मा है। किन्तु इस से लोग हिंसा में र । और दया को न्तर्गत रके

हीन-हीन दुःखी जीवों की रक्षा करने के लिए दान दिया करते हैं। इसी तरह कसाई आदि हिंसको के द्वारा मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षा करने के लिए हिंसक को रुपये-पैसे देकर या बलप्रयोग द्वारा उन प्राणियो को छुड़ाते है। इस तरह कार्य करने वाले समझते हैं कि मेरा यह कार्य धर्मजनक है परन्तु वे भूल मे हैं। वे धर्म के रहस्य को नही जानते हैं। अहिंसा शब्द का र्थ यह है कि अपनी ओर से किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए। अहिंसा शब्द निवृत्तिवाचक है, इसीलिए हिंसा न करना ही इस शब्द का वास्तविक अर्थ है।

जैन-शास्त्रो में 'रक्षा' और 'दया' आदि शब्द भी पाये जाते हैं। उनका अर्थ भी 'स्वयं' किसी प्राणी को न मारना ही समझना चाहिए। दूसरे प्राणी के द्वारा मारे जाते हुए प्राणी को बचाने के लिए प्रवृत्ति करना अहिंसा धर्म नहीं है। वह तो एक प्रवृत्ति-प्रधान दूसरा ही धर्म है। जिसका विधान जैन-शास्त्रों में कहीं नही पाया जाता है। यद्यपि भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था मे वैश्यायन बालतपस्वी के द्वारा जलाये जाते ए गोशालक की रक्षा की थी। परन्तु उस दृष्टान्त से मरते हुए प्राणियों की प्राणरक्षा करने मे धर्म स्थापन करना बड़ी भारी भूल है क्योंकि जब भगवान् महावीर स्वामी को केवल-ज्ञान उत्पन्न हो चुका था, उस समय उनके सामने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनि को गोशालक ने जला दिया था। परन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा न की। भगवान् के केवली अवस्था के इस उदाहरण से मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना कर्त्तव्य सिद्ध नही होता। इस उदाहरण से स्पष्ट सिद्ध होता है कि छद्मस्थ अवस्था में सर्वज्ञ न होने के कारण भूलकर उन्होंने यह काम किया है।

अतः हिंसक द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने में धर्म बताना मूर्खों का काम है।

२—हीन, दीन दुःखी जीवों को दयालु पुरुष सहायता दिया करते हैं और इस कार्य को वे पुण्यजनक मानते हैं। परन् तेरहपन्थी साधु इसे कुपात्र दान ठहरा कर श्रावकों से इस त्याग कराते हैं। तेरहपन्थियों की मान्यता है कि साधु से भि संसार के समस्त प्राणी कुपात्र हैं। इस विषय में भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ और ८२ में विस्तारपूर्वक लिखा है। पृष्ठ ७९ मे लि है कि 'साधु थी अनेरो कुपात्र छे।' पृष्ठ ८२ में लि है कि 'कुपात्र-दान, मांसादि सेवन, व्यसन, कुशीलादिक ये तीनों ही एक मार्ग के पथिक है।' इत्यादि।

३—इसी तरह पुत्र माता-पिता की, पति का पति ी की और विद्यार्थी गुरु आदि की जो सेवा सुश्रूषा, सम्मान आदि करते हैं—इसे भी तेरहपन्थी एकान्त पाप बतलाते है। इनकी उक्त मान्यता भी अज्ञान से भरी ई है। भगवान् ने श्री उववाई सूत्र मे बताया है कि 'अम्मापिउ सुस्सूसगा' इत्यादि। यह पाठ देकर माता-पिता की सेवा करने वाले पुत्र को र्ग-गामी कहा है। शा के अनुसार माता-पिता आदि की सेवा से पुण्यबन्ध होता है। यह बात शास्त्र-सि होने पर भी रह-पन्थी बन्धु पितृ-भक्ति को एकान्त पाप बता कर संसार से सेवा का लोप करना चाहते है किंतु विद्वज्जनों को यह मान्यता अ ानपूर्ण ही समझना चाहिए।

और भी इनके खुले मतव्य देखिये :—

—: दया और दान का संकुचित अर्थ :



"साधु थी अनेरो कुपात्र छे। नेरा ने दीधां अनेरी प्रकृति नो बंध कह्यो ते अनेरी प्रकृति पाप नी छे।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० ७६

" पात्र दान, मांसादि सेव , व्यसन शी दिक यह तीनों एक ही मार्ग के पथि है। जैसे चोर, जार, ठग यह तीनों समान व्यवसायी हैं। उसी तरह जयाचार्य सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी माँ ादि सेवन व्यसन कुशीलादिक की श्रेणी में गिनने योग्य है।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० ८२ (संशोधक)

"केतला एक जिन आज्ञाना अजाण छे, ते साधु अग्नि मांही बलता ने कोई गृहस्थी बांहें पकड़ ने बाहिर काढे तथा साधुरी फांसी कोई गृहस्थ कापे तिण में धर्म कहे छे।"

भ्रमविध्वंसनम् पृ० २६७

यदि कोई गृहस्थ अग्नि से जलते साधु की बांह पकड़कर बाहर निकाल देता है या साधु की फांसी काट देता है तो उसमें धर्म कहने वाले जिन आज्ञा के अजाण हैं।

कुपात्र जीवां ने चावि ां, ा ने दिये दानजी।
औ ाव कर्त्तव्य संसार नो, ाख्यो छे ानुजी॥

अनुकम्पा ढाल १२ ाी १०

रो उपकार ाया में, जिन रो हीं अंश ाि ार।
सार तणां प र वि ा में, ध हे ते मूढ़ गँवार॥

अनु० ढाल ११ ाी ३६

तेरहपंथी भाइयो! ापके मत से सांसारिक कर्त्तव्य या लौकिक उपकार मे धर्म कहने वाला मूढ़ ौर गँवार है? इन कार्यों मे धर्म नहीं हुआ तो पुण्य भी नही हुआ क्योंकि धर्म के विना कोरा पुण्य मानते नहीं हैं। भावार्थ यही निकला कि लौकिक उपकार करने से पापरूप ही फल आ। यही निश्चि त मान्यता है और इसी को ये छिपाते हैं। "लोकभय से सिद्धान्त गोपन करना कायरता है। नींव मजबूत है, सिद्धान्त सही है, तब डर किस बात का!" तो क्यों नहीं स्पष्ट कह देते कि लोक-धर्म के पालन करने का फल पापबन्ध है। आप लोकधर्म तो कहते हैं मगर उसका फल क्यों नहीं बताते? फल बताने में लुका-छिपी क्यों? भारतीय ऋषि मुनियों ने पुण्य, पाप ौर धर्मरूप तीन फ बताये है। हम इन्हीं तीन मे से उत्तर चाहते हैं।

न-पान न कराना तो ापने पाप बताया है मगर स्तन पान कराने का फल क्यों नहीं बताया? भ पान का विच्छेद करने ात्मधर्म की घात होती है मगर भक्त-पान देने से क्या फल होता है? यह क्यों छिपाते हैं?

प्रति सा का नाम लेकर तथा मदिरा, मांस ौर सेवन से सु पहुँचाने की बात कहकर रक्षा ौर सहायता ो

उड़ाना चाहते हैं यह अनुचित है। क्या आप बिना प्रतिहिंसा के रक्षा करने में और मदिरा, मांस व इत्यादि सेवन के सिवाय अन्य साधनों से किसी को साता पहुंचाने मे धर्म मानते हैं? आप तो रक्षामात्र मे पाप मानते है। चाहे शुद्ध साधन से रक्षा की गई हो। क्योंकि आपकी मान्यता है कि असंयती जीव जिंदा रहकर जो पाप करता है वह पाप रक्षक को लगता है।

वर्त्तमान मे अन्तराय देने मे आप पाप मानते है मगर भविष्य- के लिए दीन, हीन दुःखी जनों के लिए दान का दर-वाजा बंद करने से पाप क्यों नहीं मानते ? आपके पूर्वाचार्य दान देने का त्याग करने का उपदेश देते थे जैसे कि कहा है :—

अव्रत में दान देवा तणो, कोई त्याग रे मन द्धूजी।
त्यांरो प निरन्तर टालियो, त्यांरी वीर बखाणी द्धूजी॥

श्रावक-धर्म-विचार पृ० १३१

अब प्रश्न यह रहा कि क्या श्वे० तेरहपन्थी गृहस्थ परो-पकार के कार्य नहीं करते ! करते भी हैं मगर शर्माशर्मी और पाप समझकर। छाती में धड़कन लाकर पश्चात्ताप करते हुए। जैसे कि कहा है :—

अव्रत में देताँ थकाँ, पड़े श्रावक रे मन धर जी।
काम पड़े अव्रत में दान रो, जब देतो ही शरमाशर्मजी॥
पछे करे पछतावो तेहनुं, इं ढीला पड़े र्मजी।
अव्रत में दान दे तेहनुं, टालन रो करे उपायजी॥
जाणे र्म बंधे छे म्हांय रे, मौंने भोगवतां दुःखदायजी।
अव्रत में दान देताँ थकाँ, बंधे ाठूं ही पापकर्मजी॥

श्रावक-धर्म-विचार पृ० १३०

साधु के सिवाय सब प्राणी अव्रती हैं। उनको दान देने से आठों ही 'पापकर्म' बंध जाते हैं। बन्धुओ ! फिर भी यह कहते हैं हम कहाँ मना करते हैं। यह ऊपर की ढाल दान के लिए प्रोत्साहन दे रही है या दान का दरवाजा बन्द कर रही है? पाठक सोचें।

उपरोक्त लोक--विरुद्ध मान्यताओं का समाधान एव सन्मार्ग-दर्शन कराने के लिए ही स्वर्गीय पूज्य श्री ने उन्हीं की शैली से ढालों की रचना एवं 'सद्धर्म-मण्डन' ग्रंथ रचकर जनता का आवरण दूर किया है। ऐसे महापुरुष हमारे लिए परमोपकारी है, उनका जितना उपकार मानें कम ही है, उनका उपकार नन्त हैं।

श्री धर्मरक्षक समिति के सदस्य,

र ।

विषय सूची

* श्री वीतरागाय नमः *

-: अनुकम्पा-विचार :-

(द्वितीय भाग)

* दोहा *

साधु जीव मारे नहीं, पर ने हे ार।
भलो न जाणे मारियां, त्रिकरण शुद्ध विचार ॥ १ ॥

भावार्थः—साधु किसी जीव को स्वयं मारते नहीं और दूसरो से मरवाते नहीं अर्थात् जीव को मारने के लिए दूसरो को कहते नहीं तथा जीव मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते। इस प्रकार साधु तीन करण तीन योग से हिंसा के त्यागी होते हैं ॥१॥

णे, हणावे, गणे, परजीवाँ रा प्राण।
तीन करण हिंसा कही, श्री जिन वचन प्रमा ॥ २ ॥

भावार्थः—"जो जीवो को स्वयं मारता है, दूसरों से मरवाता है और जीवो को मारने वाले का अनुमोदन करता है वह पुरुष तीन करण से अर्थात् करना, कराना और अनुमोदना इन

तीन करण से हिंसा के पाप का भागी होता है।" ऐसा भी तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है ॥२॥

बोले, बोलावे, भल कहे, सावद्य कूड़ा वेण।
तीनों करणे झूठ है, खोलो अन्तर नेण ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो स्वयं झूठ बोलता है, दूसरों से झूठ बोलाता है और झूठ बोलने वाले का अनुमोदन करता है वह तीनो करण से झूठ के पाप का भागी होता है ॥३॥

जिम सत बोले साधुजी, पर ने कहे तू बोल।
भल जाणे सत बोलियाँ, तीनों करण अमोल ॥ ४ ॥

तिम साधु बचावे जीव ने, पर ने कहे बचाय।
बचियां अनुमोदन करे, त्रिकरण शुद्ध कहाय ॥ ५ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार साधु स्वयं सत्य बोलते हैं, दूसरों से बोलाते हैं अर्थात् सत्य बोलने के लिए दूसरो को उपदेश देते हैं और सत्य बोलने वाले का अनुमोदन करते हैं। ये तीनो करण शुद्ध है उसी प्रकार साधु स्वयं जीव की रक्षा करते हैं, दूसरो से करवाते है अर्थात् जीव-रक्षा करने के लिए उपदेश देते हैं और जीवरक्षा करने वाले का अनुमोदन करते है; ये तीनो करण शुद्ध कहलाते है ॥४-५॥

(कहे) "सावज-सत्य न बोलणो, तिम न बचाणो जीव।
अनुकम्पा सावज हुवे," या कुगुरॉ री नींव ॥ ६ ॥

भावार्थः—"जिस प्रकार सावद्य सत्य न बोलना चाहिए उसी प्रकार जीवों की रक्षा भी न करनी चाहिए क्योंकि अनुकम्पा सावद्य है।" इस प्रकार कुगुरुओं का कथन है ॥६॥

(उत्तर) सावद्य-निरवद्य सूत्र में, सत्य रा ख्या भेद।
पिण अनुकम्पा रा नहीं, ज दो ोटो खेद ॥७॥

भावार्थः—शा ो में सत्य के सावद्य सत्य और निरवद्य सत्य इस प्रकार दो भेद कहे गये हैं किन्तु अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य ऐसे दो भेद नहीं बताये गये है। इसलिए अनुकम्पा के सावद्य और निरवद्य ऐसे दो भेद कहना शा विरुद्ध है ॥७॥

जिण बोले परजीव ने, दुख उपजे सुख ँय।
ते सत् ने ावज कह्यो, सुगडायँग रे ँ ॥ ८ ॥

पर पीड़ाकारी नहीं, हित ारी दाय।
ते सत् निरवद्य जा ज्यो, जिन शा रे ँय ॥ ९ ॥

नुकम्पा पर-जीव ा, बचाव र।
दुख तिण थी उपजे हीं, निरवद्य निश्चे धार ॥ १० ॥

भावार्थः—सूयगडांग सूत्र मे बतलाया गया है कि जिस वचन से दूसरे जीवों को दुःख उत्पन्न हो वह सावद्य सत्य है और जो वचन दूसरों को पीड़ाकारी नहीं किन्तु हितकारी और सु -कारी हो वह निरवद्य सत्य है। इसी तरह अनुकम्पा दूसरे जीवों के प्राणों की रक्षा करने वाली है, अनुकम्पा से किसी को दुःख उत्पन्न नही होता। इसलिए अनुकम्पा सदा निरवद्य ही । वह कभी सावद्य नहीं हो सकती। वही सत्य सावद्य कहा गया है जिससे दूसरे जीव को दुः उत्पन्न हो अर्थात् दूसरों को दुः

उत्पन्न करने वाला होने के कारण वह सावद्य है किन्तु अनुकम्पा से किसी जीव को दुःख उत्पन्न नहीं होता इसलिए वह सावद्य नहीं हो सकती ॥८-१०॥

भय मेट्यो परजीव नो, दान अभय प्रभु गाय।
तिण में पाप बतावियो, जैनी नाम धराय ॥ ११ ॥

भावार्थः—भय पाते हुए प्राणी के भय को मिटाना अभयदान है ऐसा श्री तीर्थङ्कर भगवान ने फरमाया है। उस अभयदान मे जो पाप बताते है और फिर अपने आपको जैनी कहते है यह बड़े दुःख की बात है। अनुकम्पा एव अभयदान मे पाप बतलाने वाले जैनी नही किन्तु जैनाभास और जैनियों के कलङ्क है ॥११॥

अभयदान नहिं ओलख्यो, दीनी दया उठाय ।
भोला ने भरमायवा, कूड़ा चोज लगाय ॥ १२ ॥

भावार्थः—अनुकम्पा एवं अभयदान में पाप बतलाने वाले मूर्खों ने अनुकम्पा और अभयदान के स्वरूप को पहचाना ही नही है। वे अपने मनगढ़न्त कुहेतु लगा कर दया दान को उठा रहे है और भोले जीवो को भ्रम मे डाल रहे है ॥१२॥

(कहे) "जीव बचावे मुनि नहीं, परने न कहे बचाव।
भलो न जाणे बचावियां," इम खोटा खेले दाव ॥ १३ ॥

भावार्थः—वे कुगुरु कहते है कि "साधु स्वयं मरते प्राणी की प्राणरक्षा नहीं करते, दूसरो से रक्षा नहीं करवाते अर्थात् मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिए दूसरो को उपदेश नही देते और जीवरक्षा करने वालो को भला भी नहीं जानते।" इस प्रकार कुगुरुओं का कथन है ॥१३॥

: ढाल-छठी :

(तर्ज—चतुर नर छोड़ो कुगुरु नो संग)

इण साधाँ रा भेख में जी,
बोले एहवी वाय ।
"छकाय रत्ता ना राँजी,
जीव बचावाँ नाय ॥"
चतुर नर मभो ज्ञान विचार ॥ १ ॥

एहवी करे परूपणा जी,
पिण बोले बन्ध होय ।
बदल जाय पूछ्याँ थकां जी,
ते भोलां ने बर न को ॥ चतुर० ॥ २ ॥

भावार्थः—साधु का भेष पहन कर कितनेक अज्ञानी इस प्रकार कहते हैं कि "हम छः काय जीवों की रत्ता नहीं करते हैं और मरते हुए किसी भी जीव को नहीं बचाते हैं।" इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं और भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि 'इनकी जबान का कोई ठिकाना नही है जब पण्डित पुरुष उनसे प्रश्न पूछते हैं तो वे बदल जाते है।' अर्थात् अपने कथन पर कायम नही रहते हैं ॥१-२॥

थारे पाणी रे पातरे जी,
साखाँ पड़िया आय।
दुःख पावे अति तड़फड़े जी,
जुदा होवे जीव काय ॥ चतुर० ॥ ३ ॥

साधु देखे तिण अवसरे जी,
कहो काढे के नाँय ?
तब तो कहे "झट काढणाजी,
नहिं काढयाँ अनरथ थाय ॥ चतुर० ॥ ४ ॥

(कदा) मूर्छाणी होवे माखियाँजी,
जतना से मूर्छा जाय।
(तो) कपड़ादिक में बाँधने जी,
मूर्छा देवाँ मिटाय" ॥ चतुर० ॥ ५ ॥

भावार्थः—उन लोगों से पूछना चाहिए कि "तुम्हारे (भीपणमतानुयायी साधुओ के) जल के पात्र मे मक्खियाँ पड़ गई, वे दुःख पाती हुई तड़फड़ा रही हैं। तुम साधु लोग उन्हें देख रहे हो। अब बतलाओ तुम उन मक्खियो को बाहर निकालोगे या नहीं ?

इस प्रश्न का वे उत्तर देते है कि हम तुरन्त उन मक्खियों को बाहर निकालेंगे क्योकि नही निकालने से अनर्थ होता है। हमारे जल के पात्र मे पड़ने से कदाचित् वे मक्खियाँ मूर्च्छित हो गई हो तो यतनापूर्वक हम कपड़े आदि मे बांध कर उनकी मूर्छा को मिटा देते है" ॥३-५॥

प्राणी नाँय बचावणा जी,
थें कहता एहवी वाय।
रतख मा ां बचाविया जी,
थारी बोली में वन्धन कांय? ॥ चतुर ॥ ६ ॥

भावार्थ:—तब उनसे पूछना चाहिए कि 'तुम लोग कहते थे कि हम किसी भी जीव को नहीं बचाते और मरते प्राणी की प्राणरक्षा नहीं करते। अब तुमने मक्खियों को क्यों बचाया? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुम लोगो की जबान का कुछ भी ठिकाना नहीं है। कहते कुछ और हो और करते कुछ और अर्थात् भोले लोगों को भ्रम मे डालने के लिए कहते तो यह हो कि 'हम किसी भी मरते प्राणी को नहीं बचाते' किन्तु तुम स्वयं अपने इस कथन से विपरीत आचरण करते हो। तुम्हारा कहना और करना एक नहीं है।

महात्मा और दुरात्मा (दुष्ट) पुरुषों का लक्षण बताने के लिए एक कवि ने कहा है:—

मनस्ये वचस्येकं, मण्येकं हात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्, क ण्यन्यद् दुरात्म ाम् ॥

अर्थात्:—मन, वचन और कर्म के अन्दर जो एक है अर्थात् जैसा कहता है वैसा ही जो वचन द्वारा कथन करता है और जैसा कहता है वैसा ही आचरण करता है वह महात्मा पुरुष है। मन, वचन और कर्म के अन्दर जो भिन्न है अर्थात् जिसके मन में कुछ और है, और वचन द्वारा कहता कुछ और है तथा आचरण कुछ और ही करता है यानी जैसी बात मन मे

है वैसी वचन द्वारा नही करता किन्तु भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए तथा उन्हें धोखा देने के लिए कुछ और ही कहता है और जैसा अपनी जबान से कहता है वैसा स्वय आचरण नही करता वह दुरात्मा (दुष्ट) है।

ऊपर बताया जा चुका है कि भीषण मतानुयायी साधु कहते तो यह है कि 'हम मरते प्राणी को नहीं बचाते' किन्तु वे अपने इस कथन का स्वय आचरण नहीं करते।

अब पाठक स्वयं इस बात का निर्णय करें कि ऊपर बताये हुए महात्मा और दुरात्मा के लक्षण मे से कौन-सा लक्षण उनमें घटित होता है और उन्हें किस कोटि में रखा जाय? महात्मा की कोटि में रक्खा जाय या दुरात्मा की कोटि मे? ॥६॥

कहे "जीव बचायाँ पाप छै जी,
किंचित नाहीं धर्म"।
तो सौ माखा बचाविया जी,
थारी श्रद्धा रो निकल्यो भर्म ॥ चतुर० ॥ ७ ॥

भावार्थः—वे कहते है कि "जीव बचाने मे पाप है, किञ्चिन्मात्र धर्म नहीं" किन्तु उनके जल के पात्र (पातरे) मे पड़ी हुई सैकड़ों मक्खियो को आज तक बचा दिया है और आज भी अपने जल के पात्र मे पड़ी हुई मक्खियों को बचाते है। तब उनकी श्रद्धा की पोल स्वतः खुल जाती है कि 'वे जीव बचाने मे पाप कहते है किन्तु स्वयं जीव बचाते है' अतः उनकी श्रद्धा मिथ्या है ॥७॥

(इम चिड़िया) मूषादिक थारे पातरेजी,
पड़िया ने ढो बार ।
से कहो न चावणा जी,
यो कूड़ो थारो व्यवहार ॥ चतुर० ॥ ८ ॥

भावार्थः—इसी प्रकार भीपण-मतानुयायी साधु अपने जल के पात्र (पातरे) में पड़ी हुई चिड़िया तथा चूहे आदि को बाहर निकाल देते है। वे लोग अपनी जबान से कहते थे कि 'हम मरते जीव को नहीं बचाते' किन्तु वे अपने इस कथन का पालन नही करते बल्कि वे इससे विपरीत आचरण करते हैं अतः उनका कथन मिथ्या है ॥८॥

वीर, गोसालो बचावियोजी,
तिण में बतावो पाप ।
(पोते) उंदर आदि बचायलो जी,
थांरी खोटी श्रद्धा साफ ॥ चतुर० ॥ ६ ॥

भावार्थः—'भगवान् महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया था' इस कार्य मे वे पाप बतलाते हैं किन्तु वे स्वयं अपने पात्र में पड़ी हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को बाहर निकाल कर बचाते हैं और इसमे धर्म मानते हैं। इसलिए 'जीव बचाने मे पाप है' यह उनका कथन मिथ्या है ॥६॥

(जो) पाप कहो वान् ने जी,
(तो) पोते क्यां छोड़ी रीत ?

उन्दर माखी बचाविया (जी)
थारी कूण माने परतीत ॥ चतुर० ॥ १० ॥

भावार्थः—उनसे पूछना चाहिए कि 'भगवान महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया था, इससे तुम पाप बतलाते हो फिर तुम स्वयं मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को क्यों बचाते हो ? जब तुम स्वयं जीव बचाते हो और उससे धर्म मानते हो और लोगो को यह उपदेश देते हो कि "जीव बचाने में पाप है" तो बताओ तुम्हारे इस उपदेश को कौन सत्य मानेगा ? कौन तुम्हारे वचन पर विश्वास करेगा ?

जो व्यक्ति कहता कुछ और है और करता कुछ और है उसके कथन पर जिनके ज्ञानचक्षु नही है और जिनके हृदय की आँखे फूट चुकी हैं ऐसे अज्ञानी लोग ही विश्वास कर सकते हैं किन्तु विवेकी एवं पण्डित पुरुष तो उनके वचनो पर कदापि विश्वास नही करते ॥१०॥

गोसाला ने बचायवा में,
पाप कहो साक्षात ।
माखाँ मरता देखने जी,
क्यों काढ़ो निज हाथ ॥ चतुर० ॥ ११ ॥

इम पूछ्यां जाब न ऊपजे जी,
जब खोटी काढ़े वाय ।
(कहे) "उपधि हम साधु तणी जी,
जामें जीव कोई मर जाय ॥ चतुर० ॥ १२ ॥

तो हिं । गे । ने ी,
ते टालण बचावाँ जीव ।
दूजा ाय बचावणा जी,
या मारी श्रद्धा री नींव'' ॥ चतुर० ॥ १३ ॥

भावार्थः—उन भीषणमतानुयायी साधुओं से पूछना चाहिए कि "श्री भगवान महावीर स्वामी ने गौशालक को बचाया उसमें तुम लोग पाप कहते हो तो फिर तुम स्वयं अपने पात्र (पातरे) में पड़ी हुई मक्खियां, चिड़ियां और चूहे आदि को बाहर निकाल कर क्यो बचाते हो ?

इस प्रश्न का जब उन्हें कोई ठीक जवाब नहीं आता तब वे अनर्गल बातें बनाते हैं और कहते है कि 'जल का पात्र हमारी उपधि (धर्मोपकरण) है। हम साधुओ की उपधि मे यदि कोई जीव मर जाय तो उसका पाप हम साधुओ को लगता है इसलिए हम अपनी उपधि में मरते हुए जीव को बचाते हैं किन्तु दूसरे जीवो को नही बचाते है यह हमारी श्रद्धा है ॥११–१३॥

(उत्तर) (थारी) नेसराय री भूमि में जी,
(थारा) पाटा रे निकट में आय।
(तपसी) श्रावक ाउ ग्ग कियो जी,
पड़ियो मिरगी झोलो खाय ॥ चतुर० ॥ १४ ॥
(थारा) पाटा रे ऊपर ढह प ़ ्यो जी,
ल ागे जीव जाय।
बीजो नहिं तिहाँ मानवीजी,
थें बैठो करो के ाँय ? ॥ चतुर० ॥ १५ ॥

भावार्थः—तब उन लोगो से पूछना चाहिए कि तुम लोग जिस धर्म स्थानक मे ठहरे हुए हो और वहाँ जिस पाटे (तखते) पर तुम बैठे हुए हो उस पाटे के पास आकर किसी श्रावक ने कायोत्सर्ग किया। अचानक उसे मृगी आ जाने से वह धड़ाम से तुम्हारे पाटे पर गिर पड़ा और उसकी गर्दन पाटे और दीवार के बीच मे इस प्रकार बुरी तरह फँस गई है जिससे उसके प्राण जाने की नौबत आ गई है। उस वक्त वहाँ कोई दूसरा श्रावक नहीं है। ऐसे समय मे तुम उस श्रावक को बैठा करोगे या नही ? ॥१४-१५॥

तव तो कहे "म्हें साध छाँ जी,
(श्रावक) बेठो कराँ केम।
म्हारे काम कांई गेही से जी",
बोले पाधरा एम ॥ चतुर० ॥ १६ ॥

(थारा) पाटा पर श्रावक मरे जी,
तिण ने बचावो नाँय।
उन्दर-चिड़िया बचाय लो जी,
पड़े जो पातर माँय ॥ चतुर० ॥ १७ ॥

उन्दर चिड़िया बचाय ले जी,
श्रावक उठावे नाँय।
देखो अंधेरो एहने जी,
ए पड़िया भरम रे माँय ॥ चतुर ॥ १८ ॥

उन्दर चिड़िया बचावताँ जी,
शंके नाहीं लिगार ।
श्रावक ने बेठो कियां में,
पाप री करे पुकार ॥ चतुर० ॥ १९ ॥

इतरी समज पड़े नहीं,
त्याँमें समकित पावे केम ।
छकिया मोह मिथ्यात में जी,
बोले मतवाला जेम ॥ चतुर० ॥ २० ॥

भावार्थः—तब वे लोग उत्तर देते हैं कि 'हम तो साधु हैं, हमारे श्रावक से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए हम उसे बैठा नहीं करते।

अब विचार करने की बात है कि उनके पात्र मे पड़ी हुई म री, चिड़िया और चूहे आदि को तो उससे बाहर निकाल कर बचा लेते है और उनके पाटे पर श्रावक मर रहा है उसे वे नही बचाते यह कितने ताज्जुब की बात है? यह कितना घोर अन्धकार है? पात्र आदि अपनी उपधि मे मरती हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को तो वे निःसंकोच बचा लेते है किन्तु उनकी नेश्राय मे रहा हुआ पाटा जो कि उनकी उपधि है उस पर मरते हुए श्रावक की वे रक्षा नही करते और उसकी रक्षा करने मे पाप मानते है यह कितनी अज्ञानता है? जल का पात्र भी उनकी उपधि है और पाटा भी उनकी उपधि है फिर जल के पात्र मे पड़ी हुई मक्खी आदि को बचाने मे धर्म मानना और पाटे पर मरते हुए श्रावक की रक्षा करने मे पाप बताना कितनी बड़ी

मूर्खता है । जो लोग इतना भी नहीं समझते उनमें समकित तो हो ही कैसे सकती है ? जिस प्रकार मदिरा के नशे में बेभान बना हुआ पुरुष बकवाद करता है उसी प्रकार ये लोग भी मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से उन्मत्त प्रलाप करते है ॥१६-२०॥

(कहे) "साधाँ ने उन्दर काढ़णो जी,
पातरादिक थी बार ।
पाटा पर श्रावक मरे जी,
(तो) बेठो न कराँ लिगार" ॥ चतुर० ॥ २१ ॥

(उत्तर) श्रावक बैठो ना करोजी,
ऊँदर काढ़ो जाय ।
आ खोटी श्रद्धा ताहरी जी,
मिले न थारो न्याय ॥ चतुर० ॥ २२ ॥

भावार्थ:—यदि वे यह कहे कि 'हमारे पात्र मे पड़ी हुई मक्खी, चिड़िया और चूहे आदि को तो हमे बाहर निकाल लेना चाहिये; उन्हे निकालना धर्म है किन्तु हमारे पाटे पर गिर कर मरते हुए श्रावक को हमे नही उठाना चाहिए क्योकि श्रावक को उठाने से हमे पाप लगता है' तो यह उनका कथन कितना असगत है ? उनका न्याय मिलता नही क्योंकि जिस प्रकार पात्र उनकी उपधि है उसी प्रकार पाटा भी उनकी उपधि है फिर पात्र से पड़ कर मरने वाले जीवो को तो वे बाहर निकालते है और उनकी रक्षा करने मे धर्म मानते हैं किन्तु पाटे पर गिर कर मरने वाले श्रावक की रक्षा करने मे पाप मानते है। यह मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण है ? दोनो कार्य समान हैं फिर एक मे धर्म मानना और दूसरे मे पाप मानना अज्ञानता है ॥२१-२२॥

परतख घ मिले नहीं जी,
तावड़ा छाँहड़ी जेम ।
न्याय र्ग ज्याँ ओलख्यो जी,
ते विकलाँ री माने के ॥ चतुर० ॥ २३ ॥

भावार्थः—उन लोगो का उपरोक्त कथन धूप और छाया के समान परस्पर विरोधी है। इसलिए जिन्होंने वीतराग देव के न्याय मार्ग को पहचान लिया है वे पण्डित पुरुष इस मूर्खतापूर्ण कथन को कैसे मान सकते हैं? ॥२३॥

(कहे) "पेट दुखे सौ श्रावकाँ जी,
जुदा होवे जीव काय ।
थें हाथ फेरो पेट ऊपरे जी,
सौ श्रावक बच जाय ॥ चतुर० ॥ २४ ॥

(जो) जीव बचायां धर्म छै तो,
ाधु ने फेर ो हात ।
(जो) हाथ साधु फेरे हीं,
तो मिथ्या थाँरी बात" ॥ चतुर० ॥ २५ ॥

भावार्थः—जीव बचाने मे पाप सिद्ध करने के लिए तेरह-पन्थियो ने एक कुयुक्ति दी है। वह इस प्रकार है:—

सौ श्रावको का एक साथ पेट दुखने लग गया और पेट इतने जोर से दुखने लगा कि उनके प्राण छूटने लग गये। इतने मे उधर से साधु आ निकले। साधुओ को दे कर वहाँ उपस्थित

दूसरे श्रावकों ने उन साधुओं से कहा कि आप इनके पेट पर हाथ फेर दो जिससे इनका पेट दुखता रह जाय और इनके प्राण बच जांय। अब बतलाओ तुम्हारे (जीव-रक्षा में धर्म मानने वालों के) साधु उन सौ श्रावकों के पेट पर हाथ फेरेंगे या नहीं ? तुम लोग जीव-रक्षा में धर्म मानते हो तो साधुओं को उन श्रावकों के पेट पर हाथ फेरना चाहिए। यदि साधु उनके पेट पर हाथ नहीं फेरते हैं तो 'जीव-रक्षा मे धर्म है' यह तुम्हारी मान्यता मिथ्या है।"

इस प्रकार कुयुक्ति देकर उन्होंने जीवरक्षा मे धर्म होने की मान्यता को मिथ्या सिद्ध करने की चेष्टा की है ॥२४-२५॥

(उत्तर) साधु हे हिवे साँभलो जी,
इण कुयुक्ति रो न्याय ।
(जो) हाथ फेरचा निज जीव बचे,
(तो) निज रो फेर बच जाय॥ चतुर०॥ २६॥
हाथ फेरण रो साधु ने जी,
श्रावक कहसी केम ।
हठवादी समझे नहीं जी,
श्रावक जाणे (धर्म रो) नेम ॥ चतुर०॥ २७॥

भावार्थ:—अब उनकी उपरोक्त कुयुक्ति का उत्तर दिया जाता है कि यदि हाथ फेरने से ही उनका पेट दुखता रह जाता है और प्राण बच जाते है तो वे स्वयं अपना हाथ पेट पर फेर कर प्राण बचा लेगे फिर साधु के कल्प और नियम को जानने वाले वे श्रावक अपने पेट पर हाथ फेरने के लिए साधु से क्यो कहेगे ? ॥२६-२७॥

(हे) "लब्धि आमोसही साधुरेजी,
फरस्याँ दुःख मिट जाय।"
(उत्तर) तो (वह) चरण साधु नि रा फरस लीजी,
ततक्षण चोखो थाय ॥ चतुर० ॥ २८ ॥

चरण साधु रा फरस जी,
श्रावक रो आचार।
हाथ फेरण रो कहे नहीं जी,
थें झूठ करो उच्चार ॥ चतुर० ॥ २९ ॥

लब्धि मुनिरी देह में जी,
जो फरसे मुनि काय।
(तो) रोग मिटे साता होवे जी,
मुनि ने दोष न थाय ॥ चतुर० ॥ ३० ॥

(जो) चरण फरस दुखड़ो मिटेजी,
या जिन आज्ञा रे माँय।
तिहाँ हाथ फेरण कार नहीं जी,
थें झूठी उठाई बाय ॥ चतुर० ॥ ३१ ॥

भावार्थ:—यदि वे यह कहे कि उस साधु के शरीर से आमर्पौषधि नामक लब्धि है जिससे उनके शरीर का स्पर्श होने से श्रावको का पेट दुखता रह सकता है, तो इसका उत्तर यह

है कि जब श्रावकों को यह मालूम है कि इस साधु के शरीर में लब्धि है और इनके शरीर स्पर्श करने से रोग मिट सकता है तो वे उस साधु का चरण-स्पर्श करके तत्क्षण अच्छे हो जाएँगे। साधु के चरण-स्पर्श करना यह श्रावक का आचार (विनय) है। वह साधु को हाथ फेरने के लिए क्यो कहेगा ? जिस साधु के शरीर मे लब्धि है उसके चरण-स्पर्श से रोग मिट कर साता हो जाती है तो इससे मुनि को कुछ भी दोप नहीं लगता है। यह कार्य जिनाज्ञा मे है। इसलिए उन लोगो ने जो पेट पर हाथ फेरने की कुयुक्ति दी है वह मिथ्या है क्योकि जब लब्धिधारी मु निके चरणस्पर्श से ही रोग मिट सकता है तब हाथ फेरने का कोई कारण नही रहता ॥२८-३१॥

कुयुक्त्याँ बहु केलवो जी,
भोलां दो भरमाय ।
ज्ञानी न्याय बताय दे जब,
भरम तुरत मिट जाय ॥ चतुर ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जीव-रक्षा मे पाप बताने वाले लोग इस प्रकार की अनेक कुयुक्तियाँ देकर भोले लोगो को भ्रम मे डालते है किन्तु जब ज्ञानी पुरुष शास्त्रानुकूल सत्य हेतु देकर उन्हे समझाते है तब उनका भ्रम दूर हो जाता है, किन्तु जो हठाग्रही है वे हृदय मे सच्ची बात को समझ जाने पर भी अपने हठ को छोड़ते नही है। ऐसे हठाग्रहियो को सद्रास्ते लाने का कोई उपाय नही है क्योकि सत्य बात को समझा देना सद्गुरुओं का कार्य है, मानना या न मानना यह तो उनकी मर्जी की बात है। कोई मूर्ख मनुष्य गधे की पूंछ पकड़ ले तो उसे समझाना बुद्धिमानो

का कर्त्तव्य है किन्तु यदि वह गधे की पूंछ को नहीं छोड़े और उसे पकड़े ही रहे तो उसका कौन क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता परन्तु गधे की पूंछ को पकड़े रहने से उसे गधे की लातो की मार अवश्य ानी पड़ती है उससे वह बच नहीं सकता। इसी तरह जीव-रक्षा रूप धर्म को भूल कर जिन लोगो ने उसमे पाप बताने रूप अधर्म मार्ग को ग्रहण कर लिया है उन्हे समझाना ज्ञानियो का कर्त्तव्य है किन्तु समझ जाने पर भी हठाग्रहवश यदि वे गधे की पूंछ की तरह उस मार्ग को न छोड़े तो उनका कौन क्या कर सकता है? अर्थात् कोई छ नही कर सकता किन्तु इतना अवश्य है कि उस अधर्म एवं हठाग्रह के कारण प्राप्त होने वाली नरक गति मे परमाधार्मिको के मुद्गरो की मार अवश्य खानी पड़ती है। क्या कोई उन्हे उस मार से बचा सकता है? जिस प्रकार गधे की पूंछ पकड़ने वाले को गधे की लातो की मार से कोई नही बचा सकता किन्तु उससे बचने का एक ही उपाय है कि वह गधे की पूँछ छोड़ दे उसी प्रकार जीव-रक्षा के पवित्र कार्य मे पाप बताने का हठाग्रह करने वालो को भी परमाधार्मिको के मुद्गरो की मार से कोई नहीं बचा सकता किन्तु उससे बचने का एक ही उपाय है कि वे अपने हठाग्रह को छोड़ दे ॥३२॥

(है) "उंदर नाँय छोड़ावणो जी,
मिन्नी मारण धाय।"
एवी कर-कर थापणा जी,
भोला दिया ँसाय ॥ च र० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि 'कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए दौड़ती हो तो उससे चूहे को नही बचाना चाहिए' इस

प्रकार खोटी प्ररूपणा करके उन लोगो ने भोले जीवों को भ्रम में डाल दिया है।

वे लोग कहते है कि 'बिल्ली से मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है तथा बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना है' परन्तु उनका कथन अज्ञानतापूर्ण है। बिल्ली से मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना चूहे की अनुकम्पा करना है, अनुकम्पा करना पाप नही किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना भी नहीं है क्योकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्ली को यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष कुत्ते से उस बिल्ली की भी रक्षा करता है। यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यो बचाता ?

बिल्ली से चूहे की रक्षा करना बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना नही है क्योकि हार और जीत का व्यवहार युद्ध मे होता है परन्तु चूहे के साथ बिल्ली का कोई युद्ध नही होता क्योंकि जहाँ दोनो ही विजय की इच्छा से दोनो पर आक्रमण करे वही युद्ध है। चूहा तो बिल्ली से डर कर भयभीत होकर आप ही भागा फिरता है, वह युद्ध करने के लिए बिल्ली के सम्मुख नही जाता इसलिए वह युद्ध नही है किन्तु बलवान् हिंसक प्राणी के द्वारा वहाँ कायर एवं दुबल प्राणी की हिंसा हो रही है उसे युद्ध कायम करके चूहे की प्राण रक्षा करने से चूहे की जीत और और बिल्ली की हार बतलाना अज्ञानियो का कार्य समझना चाहिए।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि "चूहे को मारने के लिए दौड़ती हुई बिल्ली को लकड़ी आदि से छुछकारना उसे भय देना

है और भय देना तो पाप है" तो यह कहना भी ानतापूर्ण है क्योंकि वास्तव में किसी जीव को सताने के अभिप्राय से भय देना पाप है किन्तु यहाँ उस दयालु पुरुष का अभिप्राय उस नासमझ प्राणी को सताने का नहीं किन्तु उसे पाप करने से हटाने का है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणी (बिल्ली) को पाप कार्य से बचा कर उसका कल्याण करना है।

उन लोगो को रक्षा से तो द्वेष है इसलिए रक्षा मे वे पाप बताते है किन्तु हिंसक को हिंसा के पाप से बचाने मे तो वे भी धर्म मानते है। यहाँ पर बिल्ली चूहे को मार कर हिंसा का पाप कर रही है। अब उन लोगो से पूछना चाहिए कि बिल्ली को हिंसा के पाप से बचाने के लिए आप क्या करेगे? क्या आप बिल्ली को उपदेश देगे कि 'बिल्ली बाई! चूहे को मत मारो। चूहे को मारने से तुम्हे पाप लगेगा?' क्या बिल्ली आपके इस उपदेश को मानेगी? उपदेश और उपदेश की शैली श्रोता की अपेक्षा एवं द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा भिन्न भिन्न होती है। सभी के लिए एक सरीखा उपदेश नहीं हो सकता। बिल्ली को छुछकार देना यही उसके लिए उपदेश है। इसी से वह पापकार्य स बच सकती है। इसलिए चूहे को मारने के लिए दौड़ती हुई बिल्ली को छुछकार देना उसे भय देना नही है किन्तु उसको हिंसा के पाप से बचाना है ॥३३॥

ावश्यक-सूत्र दे लो जी,
  ध्या आगारां रे माँय ।
उन्दरादि ने मारवा जी,
  बिल्ली झपटी आय ॥ चतुर० ॥ ३४ ॥

आगे सरक बचावताँ जी,
काउसग्ग भागे नाय ।
टीका ने निर्युक्ति में जी,
परगट दियो बताय ॥ चतुर० ॥ ३५ ॥

भावार्थः—आवश्यक सूत्र के पाँचवे अध्ययन मे जहाँ कायोत्सर्ग के आगारो का कथन किया गया है वहाँ टीका और निर्युक्ति मे यह बात लिखी है कि कोई मुनि कायोत्सर्ग करके खड़ा हो वहाँ यदि कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए दौड़ कर आती हो तो आगे सरक कर मुनि उस बिल्ली को छुछकार कर हटा दे। ऐसा करने पर भी मुनि का कायोत्सर्ग भंग नहीं होता ॥३४-३५॥

हजाराँ वर्षा तणी जी,
निर्युक्ति निरधार ।
चवदा सौ वर्षा तणी जी,
टीका में विस्तार ॥ चतुर० ॥ ३६ ॥

भावार्थः—यदि वे भीषण मतानुयायी यह कहे कि 'यह बात निर्युक्ति और टीका मे कही गई है हम निर्युक्ति और टीका को प्रमाण नहीं मानते' तो उनका यह कथन भी अनुचित है क्यो कि हजारो वर्षो पुरानी निर्युक्ति को और चौदह सौ वर्षो पुरानी टीका को प्रमाण न मानना और अभी कल परसो के जन्मे हुए भीषणजी की बात को प्रमाण मानना क्या न्याय संगत हो सकता है ? ॥३६॥

आचारज आगे हुआ जी,
ज्ञा गुणाँ रा धार।
ंदरादि बचायवा में,
पाप कह्यो लिगार ॥ चतुर० ॥ ३७ ॥

भावार्थः—भीषणजी से पहले अनेक गुणो के धारक कई ानी आचार्य हुए हैं उन्होंने कहीं पर भी बिल्ली से चूहे की रक्षा करने मे अर्थात् जीव-रक्षा मे पाप होना नही बतालया है ॥३७॥

पाट सत्तावीस तुमे ो ी,
प्रभु आज्ञा रा धार।
तेनी थी निर्युक्ति में जी,
यो ाख्यो निरधार ॥ चतुर० ॥ ३८ ॥
य्य में जीव बचा ताँ जी,
क ग्ग भंग न होय।
वश्य निर्युक्ति त ाो जी,
ि रणो लेवो जोय ॥ च र० ॥ ३९ ॥

भावार्थः—भीषण मतानुयायी कहते हैं कि 'भीषणजी से पहले सत्ताईस पाट प्रभु आज्ञा के धारक हुए हैं' उन सत्ताईस पाटों का कथन निर्युक्ति में है इससे यह स्पष्ट है कि वे निर्युक्ति को प्रमाण मानते हैं। उसी आवश्यक ियुक्ति में यह कहा गया है कि कायोत्सर्ग कर खड़े हुए मुनि के सामने यदि कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए दौड़ कर आती हो तो आगे सरक कर मुनि

उसे छुछकार कर चूहे की रक्षा कर दे। इस प्रकार जीव-रक्षा करते हुए मुनि का कायोत्सर्ग भंग नहीं होता है।

उनके माने हुए सत्ताईस पाटो का कथन निर्युक्ति में है। वे उन सत्ताईस पाटो को मानते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि वे निर्युक्ति को अप्रामाणिक तो नहीं कह सकते। उसी निर्युक्ति मे कायोत्सर्ग मे खड़े हुए मुनि द्वारा जीव-रक्षा का कथन भी है। अत उसे अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं। उसे भी उन्हे प्रामाणिक मानना ही पड़ेगा ॥३८-३९॥

अठारे से संवत पूरवे जी,
जीव बचावण साँय।
कोई आचारज नहीं कह्यो जी,
पाप करम बन्धाय ॥ चतुर० ॥ ४० ॥

अपुठो इम भाख्यो,
मिन्नी करे चुवा री घात।
ध्यान खोल बचावताँ जी,
दोष नहीं तिल मात ॥ चतुर० ॥ ४१ ॥

तेरह पंथ के प्रवर्त्तक भीषणजी का जन्म मारवाड़ देश मे कण्टालिया नामक ग्राम मे संवत् १७८३ मे हुआ था। संवत् १८०८ मे बाईस सम्प्रदाय के पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज के पास इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। संवत् १८१५ मे पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज ने भीषणजी की श्रद्धा को शास्त्रविपरीत देखकर इन्हे अपने गच्छ से अलग कर दिया। पश्चात् भीषणजी,

वक्तोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरधरजी आदि तेरह जनों ने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनों ने इसे चलाया था इसलिए इसका नाम 'तेरह पंथ' पड़ा।

गच्छ से बाहर निकाले हुए भीषणजी में ही सर्व प्रथम यह कुबुद्धि उत्पन्न हुई कि उन्होंने जीव-रक्षा मे पाप का कथन किया। इससे पहले किसी भी आचार्य ने जीव-रक्षा में पाप होने का कथन नही किया। प्रत्युत जीव-रक्षा को परम धर्म का कार्य बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि कायोत्सर्ग मे खड़े हुए मुनि के सामने यदि कोई बिल्ली चूहे की घात करे तो मुनि अपने कायोत्सर्ग को खोल कर उस बिल्ली को छुछकार कर चूहे की रक्षा कर दे। ऐसा करने पर भी मुनि का कायोत्सर्ग भंग नही होता और मुनि को कोई दोष नहीं लगता।" पूर्वाचार्यों ने तो जीव-रक्षा का इतना माहात्म्य बतलाया है। परन्तु अभी कल-परसो के जन्मे हुए भीषणजी के दिमाग में न जाने कौन से पूर्व पाप कर्मों के उदय से यह कुबुद्धि उत्पन्न हुई जिससे वे जीव-रक्षा मे पाप का कथन करने लगे ॥४०-४१॥

(कहे) "मूसादिक ने चायलो जी,
मिनकी ने छुछकाय।
श्रावक रे ले जी,
तिणने बचावो के य" ॥ चतुर० ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यदि वे इस पर यह प्रश्न करें कि कायोत्सर्ग से खड़ा हुआ मुनि चूहे की रक्षा कर दे ऐसा तुम कहते हो तो मुनि के सामने कोई श्रावक पाटे पर गिर कर मर रहा हो तो उस समय मुनि उस श्रावक की रक्षा करते हैं या नहीं ? ॥४२॥

(उत्तर) मरतो जाण बचावियाँ जी,
दोष मुनि ने न कोय ।
निशीथ अर्थ में देख लो जी,
भरम हिया रो खोय ॥ चतुर० ॥ ४३ ॥

भावार्थः—कोई श्रावक एव कोई भी जीव मुनि के सामने मर रहा हो तो उसे मरता जान कर मुनि यथाविधि उसकी रक्षा कर सकता है इससे मुनि को किसी प्रकार दोष नहीं लगता । यह बात निशीथ सूत्र मे स्पष्ट कही गई है । अतः जीव-रक्षा मे पाप होने के भ्रम को अपने हृदय से निकाल देना चाहिए ॥४३॥

श्रावक बचायाँ धर्म छै जी,
साधु भी लेवे बचाय ।
अवसर ठम-कुठाम नो जी,
कल्प रो ध्यान लगाय ॥ चतुर० ॥ ४४ ॥

भावार्थः—श्रावक अपनी शक्ति अनुसार जीव-रक्षा करता है और साधु भी अपने कल्प एवं द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार जीव-रक्षा करता है ॥४४॥

धर्म देशना धर्म में जी,
पिण देवे कल्पते ठाम ।
जीव बचावणो धर्म में पिण,
रे कल्प थी का ॥ चतुर० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—यदि कोई यह कहे कि जब जीव-रक्षा करना धर्म का कार्य है तो मुनि अन्य सब कार्यों को छोड़ कर ब समय में यही कार्य क्यो नहीं करते ? तो उससे कहना चाहिए कि धर्मोपदेश देना तो तुम भी धर्म का कार्य मानते हो फिर तुम्हारे साधु अन्य सब कार्यों को छोड़ कर सब समय मे धर्मोपदेश ही क्यों नहीं देते ? तो उन्हें लाचार होकर यह उत्तर देना ही पड़ेगा कि यद्यपि धर्मोपदेश देना धर्म का कार्य है तथापि वह अनुकूल समय पर योग्य स्थान मे ही दिया जाता है किन्तु सदा काल और सब समय पर धर्मोपदेश नहीं दिया जा सकता। उसी तरह जीव-रक्षा के विषय में भी समझना चाहिए कि यद्यपि जीव-रक्षा का कार्य धर्म का कार्य है तथापि साधु अपने कल्पानुसार अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव से ही जीव-रक्षा का कार्य करते हैं ॥४५॥

चिड़ियो गो रा स्थान में जी,
रे टक्यो सज्झाय रो काम।
परठो के परठो नहीं जी,
तब उत्तर देवे ाम ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

"चिड़ियाँ ने तो पर दाँ जी,
जाणी ध रो ।"
(तो) कुत्तो मरयो थारा थान में जी,
तेने परठो के ाय ? ॥ चतुर० ॥ ४७ ॥

" धु बाजाँ म्हें जैन रा ी,
कुत्ता घीसाँ केम ?"

(तो) कुत्ता ने चिड़िया तणों आरे,
रयो न सरखो नेम ॥ चतुर० ॥ ४८ ॥

(तिम) जीव बचाया रो जाणज्यो जी,
ज्ञान से न्याय विचार ।
अवसर अण-अवसर तणों जी,
साधु तणो आचार ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

भावार्थ—साधु अपने कल्पानुसार समय असमय का विचार करके ही सारे कार्य करते हैं किन्तु यदि कोई हठाग्रही इस बात को न माने तो उनसे पूछना चाहिए कि 'जिस मकान मे तुम लोग (तरह पन्थी साधु) उतरे हुए हो यदि कोई चिड़िया का बच्चा वहाँ मर जाय और उसका कलेवर (मृत शरीर) वहाँ पड़ा हुआ होने से अस्वाध्याय हो जाय तो तुम उसे बाहर परठ (डाल) दोगे या नहीं ?' तब तो वे कहेंगे कि 'हम उस चिड़िया के बच्चे को बाहर परठ देंगे ।' अब मान लो कि यदि वहाँ कुत्ता मर गया और उससे अस्वाध्याय हो गया तो तुम उसे बाहर परठ दोगे या नहीं ?' तब तो वे कहेंगे कि हम जैन के साधु कहलाते है, हम कुत्ते कैसे घीसेंगे ? अर्थात् हम कुत्ते को घीस कर बाहर नही डालेंगे ।" तो उन लोगो से कहना चाहिए कि चिड़िया का बच्चा भी पचेन्द्रिय प्राणी है और कुत्ता भी पचेन्द्रिय प्राणी है किन्तु उन दोनो का तुम्हारे लिए एक सरीखा नियम नही रहा । इसी प्रकार सरल बुद्धि से जीव-रक्षा के विषय मे भी आप लोगों को समझना चाहिए कि 'जीव-रक्षा' धर्म का कार्य है किन्तु साधु लोग समय असमय का विचार कर अपने कल्पानुसार ही यह कार्य कर सकते है ॥४६–४६॥

(कहे) "गाड़ी हेटे ावड़ो जी,
मे साधू लेाो उठाय ।
श्राव मरतो जाण ने ी,
तिण ने उ ाचो के नाय" ॥ तुर० ॥ ५० ॥

भावार्थः—इस पर यदि तेरह पन्थी लोग यह पूछें कि 'कोई भार से भरी हुई गाड़ी आ रही है। रास्ते मे कोई छोटा बालक है वह उसके नीचे दब कर मर जाने वाला है तो तुम लोग (जीव-रक्षा में धर्म मानने वाले साधु) उस बालक को उठा लेते हो किन्तु कोई श्रावक तुम्हारे सामने मर रहा हो तो उसको उठाओगे या नही ? ॥५०॥

(उत्तर) म्हें तो जीव चाय ा में,
ध रो श्रद्धाँ ।
श्राव ने लड़ ा णो जी,
म्हारे भेद रो ठाम ॥ चतुर० ॥ ५१ ॥

भावार्थ:—उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि 'हम लोग जीव बचाने मे धर्म मानते हैं। गाड़ी नीचे दब कर मरने वाले लड़के और श्रावक मे हम किसी तरह का फर्क नहीं मानते। यथा-वसर साधु बालक और श्रावक दोनो की रक्षा कर सकता है ॥५१॥

(कहे) "लट, गजायाँ, कातरा ी,
ढाँढा थी चींथी जाय ।
त्याँ ने बचावा तणो नि,
क्यों हिं करे उ य ॥ चतुर० ॥ ५२ ॥

जो लड़का ने बचावसी जी,
सो लटादि लेसी बचाय।
(जो) लट गजाई रक्षा ना करे जी,
तो लड़को बचावे कॉय'' ॥ चतुर० ॥ ५३ ॥

भावार्थः—तेरह पन्थी लोग कहते हैं कि 'जो लोग जीव-रक्षा मे धर्म मानते हैं और गाड़ी के नीचे दब कर मर जाने वाले बच्चे को उठा कर बचा लेने मे धर्म मानते हैं वे लोग लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि जीव जो कि चतुर्मास मे बहुत पैदा होते हैं और पशुओ के पैरो के नीचे दब कर मारे जाते है उन्हे वे क्यो नही बचाते ? जो लोग लड़के को बचाते हैं उन्हे उन लट, गजाई आदि जीवो को भी बचाना चाहिए। यदि वे लट, गजाई आदि जीवो को नहीं बचाते हैं तो फिर वे लड़के को क्यो बचाते है ? ॥५२-५३॥

(उत्तर) दोनों बचायाँ धर्म छै जी,
थें झूठा रच्या तोफान।
मिथ्या पंथ चलायवा जी,
भूल गया थें भान ॥ चतुर० ॥ ५४ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि बच्चे की रक्षा करने मे और लटादि जीवो की रक्षा करने मे अर्थात् दोनों की रक्षा करने मे धर्म है।

एक नवीन मिथ्या पन्थ चलाने के आवेश मे आकर भीषणजी ने अन्ट-शन्ट जैसा मन मे आया वैसा लिख मारा

उन्हें आगे पीछे का और भले बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहा, वे भान भूल गये इसी लिए उन्होने ऐसी ऊटपटा अनर्गल बातें लि मारीं ॥५४॥

ा, लट, गजाय, नो जी,
रखो नहीं न्याय ।
ो नी पंचेन्द्री ते,
लट म हो ि थाय? ॥ चतुर० ॥ ५५ ॥

क्य होवे ो बचाय ले जी,
ी ा मकोड़ा रा ।
अशक्य बचाई ना सके,
ज्याँरी मूर्ख रे कोई ाण ॥ चतुर० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—दूसरी बात यह है कि भीषणजी ने लड़के को और लट, गजाई को दोनों को एक सरीखा बताया है यह भी उनकी भारी अ ानता है क्योंकि लड़का संज्ञी पंचेन्द्रिय है। वह लट, गजाई के बराबर कैसे कहा जा सकता है? लट, गजाई की पेक्षा मनुष्य की पुण्यवानी अनन्त गुणा अधिक है। लोक व्यवहार मे भी देखा जाता है कि मनुष्य की घात करने वाला बड़ा अपराधी माना जाता है और सरकार उसको फांसी तक की सजा दे देती है किन्तु लट, गजाई को मार देने वाले व्यक्ति को फांसी की सजा आज तक नहीं सुनी गई। सारा संसार लड़के और लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े मे महान् अन्तर समझता है केवल एक भीषण पन्थ ही ऐसा है जो लड़के और लट, कीड़े-मकोड़े को एक सरीखा बताता है। धन्य है भीषणजी

की इस भीषण बुद्धिमत्ता को !!! परमात्मा न करे किन्तु एक क्षण के लिए कल्पना कीजिये कि यदि इस भीषण पन्थ की मान्यता (लड़के और लट, कीड़े-मकोड़े को तथा एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को समान मानना) को राज्य व्यवस्था में स्थान मिल जाय तो सारे संसार की क्या दशा हो ? संसार के समस्त मनुष्य तत्क्षण फांसी के तख्ते पर लटका दिये जायं क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिलेगा जो कीड़े-मकोड़े की हिंसा से तथा एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा से बचा हुआ हो। उस समय स्वयं इस पन्थ के मानने वालों की क्या दशा होगी ? क्या वे फांसी के तख्ते से बच सकेंगे ? तब उनकी आँखे खुलेगी और अपने पन्थ की भीषणता का पता चलेगा। अतः लड़के को लट, गजाई और कीड़े-मकोड़े के समान बताना महामूर्खता है।

जो यह प्रश्न किया गया है कि मुनि पशुओं के पैरों से मारे जाने वाले समस्त लट, गजाई और कीड़े-मकोड़े को क्यों नहीं बचाते ? इसका उत्तर यह है कि उन लट, गजाई कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियों की रक्षा करने में हम धर्म मानते है किन्तु जो कार्य शक्य हो वही किया जा सकता है, अशक्य नहीं। जिस कार्य को करना अपनी शक्ति से बाहर हो ऐसे अशक्य कार्य की खैंच करके रक्षा में पाप बताना मूर्खता है॥५५-५६॥

द्रव्य-क्षेत्र ना अवसरे जी,
उपदेश दे मुनिराय।
विन अवसर तो ना दिये जी,
(तेथी) उपदेश अधर्म में नाँय॥ चतुर०॥ ५७॥

दु:साहस किया कि भगवान् 'चूक' गये। एक अ आ सी ने वाला बालक एक विद्वान् प्रोफेसर की अक्षर ज्ञान सम्बन्धी गल्ती बतावे तो क्या वह बालक मूर्ख नही कहलायेगा ? क्या यह उसकी धृष्टता नहीं कहलायगी ? अवश्य कहलायगी और यही कहा जायगा कि बालक स्वयं गल्ती कर रहा है, इसी प्रकार भगवान् को 'चूका' बता कर क्या भीषणजी उस बालक सरीखी मूर्खता और धृष्टता नहीं कर रहे है ? क्या इससे यह साबित नहीं होता कि ऐसा मिथ्या कथन करके भीषणजी स्वय 'चूक' गये हैं ?

जिस भगवान् के नाम पर माथा मुँडाया है और जिसके नाम से रोटी का टुकड़ा मांग कर लाते है उन्ही भगवान् को 'चूका' कहना क्या धृष्टता और निर्लज्जता की पराकाष्ठा नहीं है ? जो पुत्र अपने पिता को नालायक (चूका) समझे क्या वह सुपुत्र कहला सकता है ? कदापि नही। वह स्वयं नालायक (चूका) है और कुपुत्र है। जो पुत्र अपने पिता को 'चूका' कहे और फिर यह तुर्रा रखे कि 'मै कितना चतुर हूँ जो अपने पिता को भी 'चूका' कहता हूं' तो ऐसा कहने वाला क्या कुपुत्र एवं मूर्खशिरोमणि के पद को प्राप्त नहीं करता ? इसी प्रकार जो भगवान् को 'चूका' बता कर फिर ऊपर यह तुर्रा रखे कि "हमारी श्रद्धा बड़ी गम्भीर है" तो क्या ऐसा कहने वाला कुशिष्य और मूर्खशिरोमणि के पद को प्राप्त नही करता ? ॥६३–६६॥

(उत्तर) उपदेशे जीव बचाय ले जी,
लब्धि फोड़े नाय।
ते पिण पाप ए ंत में जी,
थारी श्रद्धा रे ंय ॥ चतुर० ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जब उन लोगो से यह पूछा जाता है कि 'तुम भगवान् को चूका कहते हो सो इसमे शास्त्र का क्या प्रमाण है ? शास्त्र मे कहीं ऐसा कहा हो कि भगवान् 'चूक' गये तो वह पाठ बताओ। तब लाचार होकर उन्हे यह कहना पड़ता है कि शास्त्र मे तो ऐसा कहीं नही कहा है कि भगवान् 'चूक' गये और न ऐसा कोई पाठ ही आया है किन्तु हम युक्ति लगा कर कहते हैं कि भगवान् 'चूक' गये। हमारी युक्ति यह है कि 'भगवती सूत्र मे कहा है कि साधु को लब्धि नहीं फोड़नी चाहिए। भगवान् ने शीतल लेश्या लब्धि फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए भगवान् 'चूक' गये। भगवान् ने पाप किया।'

इनका यह कहना एकान्त मिथ्या है। भगवान् ने लब्धि नही फोड़ी थी। इसलिए उन्हे किसी तरह का पाप नहीं लगा था।

इन लोगो से पूछना चाहिए कि 'लब्धि न फोड़ कर उपदेश द्वारा यदि कोई किसी प्राणी की रक्षा करे तो उसमे तुम धर्म मानते हो या पाप ? उपदेश द्वारा जीव बचाने मे भी इनके मत मे पाप माना गया है। इसलिए लब्धि फोड़ने का नाम लेना तो इनका बहाना मात्र है। इन लोगो को तो जीव-रक्षा से ही द्वेष है। उपदेश द्वारा अथवा किसी भी प्रकार जीव-रक्षा की जाय ये लोग तो 'जीव-रक्षा' मात्र मे पाप मानते हैं ॥६७॥

झूठा चोज लगाविया जी,
लब्धि केरे नाम।
अनुकंपा उठायवा जी,
यो मिथ्या-मत रो काम ॥ चतुर० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—वीर भगवान् ने गोशालक को बचा कर समस्त संसार को अनुकम्पा की शिक्षा दी है किन्तु अनुकम्पा के द्वेषी मिथ्यात्वी लोगो ने अनुकम्पा को उठाने के लिए झूठ-मूठ ही लब्धि फोड़ने का नाम लेकर कुयुक्ति लगाई है ॥६८॥

समुचय बिध रा नाम ले जी,
भोलाँ ने दे भरमा ।
पिण साँची कोई मत जाणज्यो जी,
भेद णो चित लगाय ॥ च र० ॥ ६६ ॥

शीतल लेश्या लब्धि गो जी,
दोष न सूतर माँय ।
सुखदाई दुः । होवे जी,
(एथी) जीव-हिंसा नहीं थाय ॥ चतुर० ॥ ७० ॥

उ ङ्ग अरु ग्रन्थ में इण,
लब्धि रो दोष न कोय ।
तो पिण प बतावियो जी,
यो कपट कुगुरु रो जोय ॥ चतुर० ॥ ७१ ॥

दोष होवे जे लब्धि थी ते,
प्रकट बताया नाम ।
इणरो न चालियो थें,
तजो पट रो ाम ॥ च र० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—"भगवान् महावीर स्वामी ने लब्धि फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए उन्हे पाप लगा" यहाँ समुच्चय लब्धि का नाम लेकर वे लोग भोले प्राणियों को भ्रम में डालते है, उनका यह कथन कपटपूर्ण है क्योंकि भगवान् ने शीतल लेश्या द्वारा गोशालक की रक्षा की थी। शीतल लेश्या सब जीवों के लिए सुखदाई होती है क्योंकि उससे किसी जीव की हिंसा नहीं होती। अङ्ग उपाङ्ग सभी शास्त्रों मे और ग्रन्थो मे शीतल लेश्या का कोई दोष नही बतलाया है। जिन लब्धियों का प्रयोग करने से पाप लगता है उनके नाम शास्त्र मे स्पष्ट गिनाये गये है किन्तु वहाँ शीतल लेश्या का नाम नहीं बतलाया गया है फिर भी कुगुरुओ ने शीतल लेश्या मे पाप बतलाया है यह उनका कपट-पूर्ण मिथ्या कथन है।

प्रवचनसारोद्धार मे शीतल लेश्या का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है:—

"अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्या-प्रशमनप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्ये"

(प्रवचनसारोद्धार)

अर्थात्—अतिशय दयालुता के कारण दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजो लेश्या को शान्त करने मे समर्थ शीतल तेजो विशेष के छोड़ने की शक्ति का नाम 'शीतल लेश्या' है।

इस लक्षण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ उष्ण तेजो लेश्या जलाने का काम करती है वहाँ शीतल लेश्या शान्ति का कार्य करती है। उष्ण तेजो लेश्या जीव-हिंसा के लिए चलाई जाती है। जैसे धूप और छाया परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध गुण

अव होवे ाध रो जी,
जीवाँ ने लेवे बचाय।
बिन अवसर रक्षा ना हुवे तो,
रक्षा में पाप न थाय ॥ चतुर० ॥ ५८ ॥

भावार्थः—उन लोगो से पूछना चाहिए कि 'तुम लोग उपदेश देना धर्म मे मानते हो और उपदेश देकर हिंसक का पाप छुड़ाना भी धर्म में मानते हो' फिर तुम (भीषण मतानुयायी साधु) सारे दिन उपदेश क्यो नही देते और सब जगह के सब हिंसक प्राणियो को उपदेश देकर उनका पाप क्यो नही छुडाते ? तब उन्हे लाचार होकर यही कहना पड़ेगा कि उपदेश देना एव उपदेश द्वारा हिंसक की हिसा छुड़ाना हम धर्म मे मानते है किन्तु सारे दिन उपदेश देना और सब जगह के सब हिंसक प्राणियो को उपदेश देकर उन्हे हिसा के पाप से छुड़ाना हमारे लिए शक्य नहीं है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता एवं अवसर होने पर ही उपदेश दिया जा सकता है और यथाशक्ति हिसक प्राणियो की हिसा छुड़ाई जा सकती है।

जिस प्रकार वे उपदेश के विषय मे अवसर और अनवसर तथा शक्यता और अशक्यता मानते हैं उसी प्रकार सरल बुद्धि से यही बात उन्हे रक्षा के विषय मे भी समझनी चाहिए कि अवसर हो और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता हो तो मुनि जीवों की रक्षा कर लेते है किन्तु जब अवसर न हो और जो शक्य न हो वहाँ जीव-रक्षा न की जा सके तो इससे जीव-रक्षा का कार्य पाप मे नहीं ठहराया जा सकता ॥५७-५८॥

उपदेश, रक्षा, धर्म में जी,
　　　　दोयाँ में शुद्ध परिणाम ।
पिण अवसर होवे जद सधे जी,
　　　　श्रद्धे आछो काम ॥ चतुर० ॥ ५९ ॥

उपदेश बतावे धर्म में जी,
　　　　जीव बचायाँ पाप ।
खोटी श्रद्धा तेहनी जी,
　　　　ज्ञानी जाणे साफ ॥ चतुर० ॥ ६० ॥

भावार्थः—उपदेश देना और रक्षा करना दोनो धर्म के कार्य हैं। करने वालो के परिणाम शुद्ध होते है किन्तु ये दोनो कार्य अवसर हो तब ही किये जा सकते हैं, बिना अवसर नहीं किये जाते किन्तु उस अवस्था मे भी इनको धर्म का ही कार्य माना जाता है, किन्तु बिना अवसर न किये जा सकने के कारण उपदेश और रक्षा इन दोनो कार्यों को पाप मे नहीं ठहराया जा सकता। ऐसा होते हुए भी जो पुरुप उपदेश को तो धर्म मे माने और रक्षा मे पाप बतावे ज्ञानी पुरुप उसकी श्रद्धा को खोटी श्रद्धा कहते है क्योंकि उपदेश और रक्षा दोनो समान कार्य है फिर उपदेश को तो धर्म का कार्य कहना और रक्षा को पाप का कार्य बताना प्रत्यक्ष खोटी श्रद्धा है ॥५९-६०॥

लड़का, लट सरिखा कहे जी,
　　　　(ते) मूरख, मूढ़ गँवार ।

जैनी । धरायने जी,
भ्रष्ट किया नरनार ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥
ीड़ा, को ा, मनुज नी जी,
सर ी बतावे बा ।
भेष लई ारी हु ा जी,
धर्म री र रया घात ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—लड़के की रक्षा और लटादि की रक्षा के विषय मे दूसरी बात यह है कि लड़के को जो लट के समान बताता है वह महामूर्ख है। ऐसा पुरुष जैनी नाम धरा कर लोगो को सत्य पथ से भ्रष्ट करता है और जो साधु का भेष पहनकर मनुष्य की रक्षा को और कीड़े-मकोड़े की रक्षा को एक समान बताता है तो समझना चाहिए कि वह साधु के भेष को लजाता है। ऐसा पुरुष साधु का भेष पहन कर कर्मों से विशेप भारी हुआ है। वह साधु के भेष की ओट में धर्म की घात करता है ॥६१-६२॥

चउ ाणी ध संयमी जी,
वीर जगत गुरु राय ।
गो ाला ने बचावियो जी,
नुकम्पा दिल ाय ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥
(जो) जीव बचाव ो पाप में जी,
गोसा ो बचायो के ।
उत्तर आयो एहनो ी,
तब झूठ बोल्या तज नेम ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

(कहे) "गोसाला ने बचायियो जी,
'चूक' गया महावीर।
पाप लागो श्री वीर ने,
म्हारी श्रद्धा बड़ी गँभीर" ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

(वलि कहे) "साधाँ ने लब्धि ने फोड़णी जी,
सूत्र भगोती रे माँय।
लब्धी फोड़ बचावियो जी,
तेथी पाप कर्म बन्धाय" ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—चार ज्ञान के धारक, शुद्ध संयम के पालने वाले, जगत् गुरु, जगन्नाथ श्री तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करके गोशालक को बचाया था। यदि जीव बचाना पाप होता तो भगवान् ने गोशालक को क्यों बचाया? जब भीषणजी को इस प्रश्न का जवाब नहीं आया तब वे अपने व्रत को तोड़ कर झूठ बोल गये कि:—भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाया था अतः भगवान् 'चूक' गये अर्थात् भगवान् ने गलती की। इस कार्य से उन्हे पाप लगा था, क्योंकि भगवती सूत्र मे कहा है कि साधु को लब्धि नही फोड़नी चाहिए। वीर भगवान् ने लब्धि को फोड़ कर गोशालक को बचाया था इसलिए उन्हे पाप कर्म का बन्ध हुआ।

अब विचारने की बात है कि गोशालक की रक्षा करते समय भगवान् को मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यव इस प्रकार चार ज्ञान थे किन्तु बिचारे भीषणजी को मति, श्रुति के अतिरिक्त ऐसा कौनसा ज्ञान था जिससे उन्होने यह कहने का

वाले हैं उसी तरह ये दोनो लेश्याएं परस्पर विरुद्ध गुणवाली हैं। अतः उष्ण तेजो लेश्या के छोड़ने से जीवों की विराधना होती है परन्तु शीतल तेजो लेश्या से किसी जीव की विराधना नही होती वल्कि उससे जीवों की रक्षा होती है। इसलिए शीतल लेश्या मे पाप वताना मिथ्या है ॥६९-७२॥

(कहे) " ष्ण ने शीतल एक जी,
तेजू लब्धि रा भेद"।
मद छकिया इम ऊचरे जी,
सुणताँ उपजे खेद ॥ चतुर० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्व मोहनीय के मद मे चूर बने हुए वे लोग कहते हैं कि उष्ण लेश्या और शीतल लेश्या दोनो तेजोलब्धि के भेद होने के कारण एक हैं ॥७३॥

(उत्तर) ीतल थी शान्ति होवे जी,
जीव विणसे कोय।
उष्ण थी जीव मरे घणा जी,
एक ि सी विध होय ॥ च र० ॥ ७४ ॥

भावार्थः—शीतल लेश्या और तेजो लेश्या दोनों तेजोलब्धि के भेद हैं किन्तु शीतल लेश्या से शान्ति होती है, और उष्ण लेश्या से बहुत जीवो का विनाश होता है। इसलिए शीतल लेश्या और उष्ण लेश्या दोनो एक नही हो सकतीं। शीतल का काम शान्ति करना और उष्ण का काम विनाश करना है। धूप और छाया की तरह दोनो परस्पर विरुद्ध हैं इसलिए शीतल ` ग्या और उष्णा लेश्या को एक कहना अज्ञानता है ॥७४॥

(कहे) "अग्नि पाणी भेला होवे जी,
जीव घणा मर जाय।
तेजू शीतल लब्धि मिल्याँ जी,
घात जीवाँ री थाय" ॥ चतुर० ॥ ७५ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि जैसे पानी के द्वारा आग बुझाने से हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या के बुझाने से भी आरम्भ दोष होता है। इस लिए शीतल लेश्या के द्वारा भगवान् ने जो तेजो लेश्या को शान्त करके गोशालक की प्राण-रक्षा की थी इसमे उनको आरम्भ दोष लगा था ॥७५॥

(उत्तर) तेजू लेश्या पुद्गल भणी जी,
अचित कह्या जिनराय।
सूत्र भगोती में देख लो थें,
खोटा लगावो न्याय ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—शीतल लेश्या के द्वारा तेजो लेश्या के शान्त करने मे आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नही जानने का फल है। भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ मे तेजो लेश्या के पुद्गलो को अचित्त कहा है। वह पाठ यह है:—

कयरेणं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा ि
समाणी दूरं गता दूरं निवत्तइ, देसं गता दे निवत्त ,
जहि जहि च णं सा निवत्तइ सहि सहि च णं ते चित्ता
उ वि पोग्गला उ भासंति जाव पभासंति ।

(भगवती शतक ७ उद्देशा १०)

अर्थ:—(प्रश्न) कालोदायी अनगार भगवान् से प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! कौन से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! क्रोधित हुए अनगार से फेंकी हुई तेजो लेश्या, दूर तक फेंकी हुई, दूर और निकट मे फेंकी हुई निकट मे जाकर पड़ती है । जहाँ जहाँ वह तेजो लेश्या पड़ती है वहाँ वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ।"

यहाँ भगवती सूत्र के मूलपाठ मे तेजो लेश्या के पुद्गलों को अचित्त कहा है । इसलिए अग्नि के सचित्त पुद्गलों का दृष्टान्त देकर शीतल लेश्या के द्वारा इन अचित्त पुद्गलो को शान्त करने मे आरम्भ दोप बतलाना शास्त्र नही जानने का फल समझना चाहिए ॥७६॥

हिंसादि कुकर्म थी जी,
ओटी लेश्या थाय ।
जीव रक्षा रा भाव में जी,
ली लेश्या दाय ॥ चतुर० ॥ ७७ ॥
माठी-लेश्या में ना कणो जी,
जीव रक्षा रो ।

उत्तराध्ययन चौत्तीस में जी,
लक्षण द्वार रे ठाम ॥ चतुर० ॥ ७८ ॥

भावार्थः—हिंसादि कुकर्म करते समय खोटी (अशुभ) लेश्या होती है किन्तु जीव-रक्षा के कार्य मे खोटी लेश्या नहीं होती वहाँ तो शुभ लेश्या होती है क्योकि अशुभ लेश्या के परिणामो से जीव-रक्षा का कार्य नही हो सकता। उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवे अध्ययन मे लेश्याओ का लक्षण बताते हुए यह बात स्पष्ट कही गई है। देखिये वहाँ की गाथाये ये हैं:—

पंचासवप्पमत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणयो, खुद्दो साहसिओ नरो ॥ २१ ॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
एय जोगसमाउत्तो, कण्हलेसं तु परिणामे ॥ २२ ॥
(उत्तरा० अध्य० ३४ गा० २१–२२)

अर्थः—हिंसादि पाँच आश्रवो मे प्रमत्त यानी मग्न रहने वाला अतएव मन, वचन, काया से अगुप्त अर्थात् मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से रहित, पृथ्वी आदि छः काय के जीवो के उपमर्द से नहीं हटा हुआ, स्वरूप और अध्यवसाय से तीव्र यानी उत्कट सावद्य व्यापार मे प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपता को प्राप्त, क्षुद्र यानी सभी अहित करने वाला, चोरी आदि बुरे कामो मे झट-पट प्रवृत्त हो जाने वाला, इस लोक और परलोक के बिगड़ने की थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला, अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव प्रमत्तत्व आदि योगो से युक्त पुरुष कृष्ण लेश्या का परिणामी होता है।

यह कृष्ण लेश्या का लक्षण बताया गया है। इस प्रकार शुभ लेश्या में जीव-रक्षा का कार्य नहीं बन सकता। जीव-रक्षा तो शुभ लेश्या के समय ही होती है ॥७७-७८॥

सदा शुद्ध-लेश्या वीर में जी,
पाप कहो किम होय।
आचारंगे देख लो जी,
प्रभु पाप न कीनो कोय ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—भगवान् में सदा शुभ लेश्या थी तब फिर भगवान् ने पाप किया यह कैसे कहा जा सकता है। आचारा सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था में स्वल्प भी पाप और एक वार भी प्रमाद नहीं किया था। वह गाथा यह है:—

णच्चा णं से महावीरे, णोवि य पावगं सयम ासी।
अन्नेहिं वा कारित्था, करंतं पि नाणुजारि र ा॥

(आचा० श्रुत० १ अ० ६ उ० ४ गा० ८)

अर्थात्:—हेय और उपादेय यानी त्यागने योग्य और संग्रह करने योग्य वस्तु को जान कर कर्म की प्रेरणा को सहन करने में समर्थ भगवान् महावीर स्वामी ने न तो स्वयं पाप कर्म किया, न दूसरे से कराया और करते हुए को अच्छा भी न जाना।

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि गवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में न स्वयं पाप किया, न दूसरे से कराया

और पाप करते हुए को अच्छा भी न जाना। अतः गोशालक की प्राण-रक्षा करने से भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिए।

यदि गोशालक की प्राणरक्षा करना पाप होता तो इस गाथा मे यह कैसे कहा जाता कि भगवान् ने छद्मस्थावस्था मे कभी भी पाप का सेवन नहीं किया था तथा आगे चल कर इसी उद्देशे की १५ वीं गाथा मे कहा है कि भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था मे कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था। वह गाथा यह है:—

अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थो वि परक्कममाणो, नप्पमायं सयंपि कुव्वित्था॥

(आचा० श्रु० १ अध्य० ६ उ० ४ गाथा १५)

अर्थः—जिसमे कषाय नहीं है वह अकषायी कहलाता है। भगवान् महावीर स्वामी अकषायी थे क्योंकि कषाय के उदय से उन्होने किसी पर भी अपनी भ्रु टि टेढी नहीं की थी। भगवान् अनुकूल शब्दादि विषयो मे आसक्त नहीं होकर रहते थे। यद्यपि भगवान छद्मस्थ थे तथापि वे विविध प्रकार के शुभ अनुष्ठान मे ही प्रवृत्त रहते थे। उन्होने एक बार भी कषायादि रूप प्रमाद का सेवन नहीं किया था।

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि छद्मस्थावस्था से भगवान् महावीर स्वामी ने एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था। अतः जो लोग गोशालक की प्राण-रक्षा को प्रमाद का सेवन बतलाते हैं वे प्रत्यक्ष उत्सूत्रवादी मिथ्यादृष्टि है॥७६॥

(कहे) "राग हुँ तो तब वीर में जी,
लियो गोशाल बचाय।
'छद्मस्थपणे चूकिया' म्हें,
पाप केवाँ इण न्याय" ॥ चतुर० ॥ ८० ॥

भावार्थ:—जब उन लोगों से पूछा जाता है कि तुम भगवान् महावीर स्वामी को 'चूका' कहते हो। ऐसा कहीं शा में आया हो तो बताओ। तब वे कहते है कि शा के पाठ मे तो ऐसा नहीं आया किन्तु हम युक्ति लगा कर कहते हैं कि—जिस समय भगवान् ने गोशालक को बचाया था उस समय उनमें राग था उस राग के कारण उन्होंने गोशालक को बचा लिया था। इसलिए हम कहते हैं कि छद्मस्थ अवस्था मे भगवान् 'चूक' गये। गोशालक की रक्षा करने से उन्हें पाप लगा ॥८०॥

(उत्तर) छद्मस्थ राग रो नाम लेने,
पड़िया पाप रे कूप।
अरिहन्त शातना री जी,
हुवा मिथ्यात रा भूप ॥ चतुर० ॥ ८१ ॥

पंच -गुणठाणा धणी जी,
सराग संजमी जोय।
संजम पाले राग से जी,
जामें दोष न होय ॥ चतुर० ॥ ८२ ॥

सं म-राग न दोष में जी,
संजम-राग में दोष।

धरमाचारज राग से जी,
मुनि होवे निरदोष ॥ चतुर० ॥ ८३ ॥

धर्म-राग रत्ता कथा जी,
श्रावक रा गुण माँय ।
धर्म-राग करता थकाँ जी,
शुक्ल-लेश्या पिण पाय ॥ चतुर० ॥ ८४ ॥

दया एक रस भाव से जी,
लियो गोशालो बचाय ।
ते राग प्रशस्त प्रभु तणो जी,
धर्म लेश्या रे माँय ॥ चतुर० ॥ ८५ ॥

भावार्थः—छद्मस्थ राग का नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामी को चूका कहना तीर्थङ्कर भगवान् की आशातना करना है। तीर्थङ्करों की आशातना करने वाले प्राणी के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

सरागपने के कार्य मे धर्म नही होता हैं ऐसा कथन करना भी मिथ्या है क्योंकि षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव सराग संयम का पालन करते है उनके संयम-राग मे कोई दोष नही है किन्तु असयम राग दोष मे कहा गया है।

अपने धर्म, धर्माचार्य और दया आदि उत्तम गुणो से राग रखना भी सरागता का ही कार्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्र मे नही कहा गया है बल्कि शास्त्र मे इसकी प्रशंसा की है। शा मे ये पाठ आते हैं:—

"धम्मायरियपे म्णुरागरत्ता ।" "ट्ठिमिञ्जा पे म्णुरागरत्ता ।" "तिव्वधम्म म्णुरागरत्ता ।"

इनके क्रमशः अर्थ ये हैं:—अपने धर्माचार्य में प्रेमानुराग से रक्त। हड्डी और मज्जा में प्रेम और अनुराग से रंगे हुए। धर्म के तीव्र अनुराग से रंगे हुए।

ये बातें शा मे प्रशंसा के लिए कही गई हैं परन्तु धर्माचार्य मे प्रेमानुराग रखना, अपने धर्म मे तीव्र अनुराग रखना और हड्डी तथा मज्जा मे आचार्य के प्रति प्रेमानुराग से रक्त होना सरागता के ही कार्य हैं। इसलिए उन लोगो के मतानुसार इन कार्यो मे भी पाप ही होना चाहिए क्योंकि ये सरागता के ही कार्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्यों को पाप नहीं किन्तु धर्म जानकर प्रशंसा की है। अतः सरागता के सभी कार्यों मे पाप बताना अज्ञानता है।

हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि मे राग रखना बुरा है, पाप है किन्तु धर्म, धर्माचार्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव-दया आदि मे राग रखना धर्म हैं, पाप नहीं है।

तेरहपन्थियो के आचार्य जीतमलजी ने 'भिक्षु यश रसायण' नामक पुस्तक मे लिखा है कि:—

"रूडे चित्त भेला रह्या, वरपद संत वदीत हो।"
जाव जीव लगि जाणियो, परम माहोमाही प्रीत हो॥"

इस पद्य मे जीतमलजी कहते हैं कि छः साधुओ का जन्म भर भीषणजी मे परम प्रेम था। क्या यह सरागता का कार्य नहीं

है? यदि है तो तेरहपन्थी इसे पाप क्यों नहीं मानते? यदि अपने धर्माचार्य से और धर्म से राग रखना सरागता का कार्य होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीव-दया में राग रखना पाप का कार्य कैसे हो सकता है? अतः सरागता के सभी कार्यों में पाप बतला कर भगवान् महावीर स्वामी ने दया के प्रेम से गोशालक की प्राण-रक्षा की थी उससे पाप बताना मिथ्या है। भगवान् का वह दया रूप राग प्रशस्त था और उसमें शुभ लेश्या थी, अशुभ नहीं। इसलिए गोशालक को बचाने से भगवान् को कोई पाप नहीं लगा। गोशालक की रक्षा करने से पाप होना बता कर भगवान् को 'चूका' कहने वाले महा मिथ्यात्वी है ॥८१-८५॥

गोशाला ने बचावियो जी,
पाप जाणता श्याम।
तो सर्व साधाँ ने वर्जता जी,
इसड़ो न करजो काम ॥ चतुर० ॥ ८६ ॥

केवलज्ञान में प्रभु कयोजी,
अनुकम्पा रो धर्म।
गोशाला ने बचावियो प्रभु,
प्रकट करयो यो मर्म ॥ चतुर० ॥ ८७ ॥

भावार्थः—गोशालक को बचाने से पाप होना यदि भगवान् जानते तो केवल ज्ञान होने के पश्चात् भगवान् सब साधुओं से ऐसा कहते कि:—"मैने गोशालक को बचाकर पाप किया है, तुम ऐसा मत करना" परन्तु इसके विपरीत भगवान् ने तो केवल-

ज्ञान होने के पश्चात् धर्मोपदेश में यह स्पष्ट फरमाया है कि 'अनुकम्पा करना धर्म का कार्य है।' ऐसा फरमा कर भगवान् ने यह जाहिर किया है कि इस अनुकम्पा धर्म को बताने के लिए मैंने गोशालक की रक्षा की थी ॥८६-८७॥

दोप न लेश प्रभु कयोजी,
गोशाल बचाया माँय ।
वीतराग गोपे नहीं जी,
प्रकट देवे फुरमाय ॥ च र० ॥ ८८ ॥

भावार्थः—केवलज्ञानी वीतराग तीर्थ र भगवान् अपने दोष को छिपाते नहीं हैं किन्तु उसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। अतः गोशालक को बचाने से यदि भगवान् महावीर स्वामी को पाप लगा होता तो केवलज्ञानी होने के बाद वे यह बात स्पष्ट रूप से कह देते किन्तु भगवान् ने इस विषय में कुछ नहीं कहा बल्कि अनुकम्पा करने मे धर्म बतलाया है ॥८८॥

गोतम ने प्रभुजी योजी,
आनंद लेवो खमाय ।
प्राछित ले निर्मल हुवो ज्यूँ,
दोष थाँरो मिट जाय ॥ चतुर० ॥ ८९ ॥
गोतम दोष मिटायवाजी,
ट ह्यो प्रभु आप ।
निज नो के ि,पावता जी,
तज दो ोटी थाप ॥ चतुर० ॥ ९० ॥

भावार्थः—एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतम स्वामी गोचरी के लिए वाणिज्य ग्राम मे पधारे। गोचरी करके जब वे वापिस लौट रहे थे तब बहुत मनुष्यो से ऐसा सुना कि आनन्द श्रावक पौषधशाला मे सलेखना संथारा करके धर्मध्यान करता हुआ स्थित है। यह बात सुनकर गौतम स्वामी आनन्द श्रावक को देखने के लिए वहाँ गये। आनन्द श्रावक ने गौतम स्वामी को वन्दना करके यह अर्ज किया कि "हे स्वामिन्! मुझे अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे मैं लवण समुद्र मे पाँच सौ योजन तक और नीचे लोलुयच्चुत नामक नरकावास को जानता और देखता हूँ।"

यह सुन कर गौतम स्मामी ने कहा कि श्रावक को इतने विस्तार वाला अवधि ज्ञान नही हो सकता। इसलिए हे आनन्द! तुम इस बात का प्रायश्चित्त करो। तब आनन्द श्रावक ने कहा कि हे स्वामिन्! क्या सत्य बात के लिए भी दण्ड प्रायश्चित्त लिया जाता है? गौतम स्वामी ने कहा—नहीं। आनन्द श्रावक ने कहा हे स्वामिन्! तब तो आप स्वयं दण्ड प्रायश्चित्त लीजिये। आनन्द श्रावक के इस कथन को सुन कर गौतम स्वामी के मन मे शका उत्पन्न हो गई। अतः भगवान के पास आकर सारा वृत्तान्त कहा। तब भगवान् ने फरमाया कि हे गौतम! आनन्द श्रावक का कथन सत्य है। इसलिए वापिस जाकर आनन्द श्रावक से क्षमा मांगो और इस बात का दण्ड प्रायश्चित्त लो जिससे तुम्हारी आत्मा शुद्ध हो जाय। भगवान् के कथनानुसार गौतम स्वामी ने आनन्द श्रावक के पास जाकर क्षमा मांगी और दण्ड प्रायश्चित्त लेकर निर्मल हुए।

इस प्रकार गौतम स्वामी के दोष को मिटाने के लिए भगवान् ने स्पष्ट फरमाया था तब वे अपने दोष को (गोशालक को बचाने से यदि उनको पाप लगा होता तो) कैसे छिपाते? अर्थात् नही छिपाते किन्तु स्पष्ट कह देते कि "गोशालक को बचाने से मुझे पाप लगा था।" परन्तु भगवान् ने ऐसा कहीं पर भी नहीं फरमाया है। इसलिए जो लोग यह कहते हैं कि—गोशालक को बचाकर भगवान् 'चूक' गये अर्थात् उन्होंने पाप किया था।" उनका कथन सर्वथा मिथ्या है ॥८९-९०॥

वो प्रकट न्याय न ओखले जी,
जारे ँय मूल ि थ्यात।
अरिहं वचन उत्थाप दे ते,
निन्हव कह्या जगन्नाथ ॥ चतुर० ॥ ९१ ॥

भावार्थ:—भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के दोष को तो प्रकट कर दिया तब क्या वे अपने दोष को छिपा लेते? नही, कदापि नही। बल्कि केवलज्ञानी होने के पश्चात् भगवान् ने तो स्पष्ट फरमाया है कि "छद्मस्थ अवस्था में मैंने कोई पाप सेवन नहीं किया।"

भगवान् के इस प्रकार के स्पष्ट कथन की अवहेलना करके उन पर 'चूका' होने का मिथ्या दोषारोपण करता है वह तीर्थङ्कर भगवान् के वचनो का उत्थापक निन्हव है।

वास्तव मे इन तेरह पन्थी लोगो का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है। लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपाय से भी

जीवरक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमे पाप ही कहते हैं। किसी मरते प्राणी पर दया लाकर उसकी रक्षा करने को ये लोग मोह-अनुकम्पा, सावद्य अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते है। भगवान् महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालक की प्राण-रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवान् को एकान्त पाप ही होता। भीषणजी ने लिखा है कि जीव-रक्षा करने के अभिप्राय से उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नही है, अन्यतीर्थियो का सिद्धान्त है। जैसा कि उन्होने लिखा है:—

"केई एक अज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवाँ धर्म उपदेश। एकण जीव ने समझावियाँ, मिट जावे हो घणा जीवाँ रा क्लेश ॥१६॥ छः काय रे घरे शान्ति हुए, एहवा भापे हो अन्यतीर्थी धर्म। त्याँ भेद न पायो जिन धर्म रो, ते तो भूल्या हो, उदय आया अशुभ कर्म ॥१७॥"

(अनुकम्पा ढाल ६ गाथा १६, १७)

अर्थात्:—कई अज्ञानी कहते है कि छः काय के जीवो के घर मे शान्ति होने के लिए वे धर्म का उपदेश करते है और कहते है कि 'एक जीव को समझा देने से बहुत जीवो का क्लेश मिट जाता है' परन्तु छः काया के घरो मे शान्ति होने के लिए उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नही है। यह अन्यतीर्थी धर्म का सिद्धान्त है। अतः वे भूले हुए है और उनके अशुभ कर्म का उदय हुआ है।

इस ढाल मे भीषणजी ने मरते जीव की रक्षा के लिए उपदेश देना जैन धर्म से विरुद्ध बतलाया है और भ्रमविध्वंसन के पृष्ठ १२० पर इनके आचार्य जीतमलजी ने लिखा है:—

"श्री तीर्थङ्कर देव पोतना कर्म खपावा था अनेरा ने तारिवा ने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यूं पिण जीव बचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं।"

अर्थात्—श्री तीर्थङ्कर देव अपने कर्मों का क्षय करने के लिए और दूसरो को तारने के लिए उपदेश देते हैं किन्तु 'जीव-रक्षा' के लिए उपदेश नही देते।

यह लिख कर जीतमलजी ने जीव-रक्षा के लिए उपदेश देना जैन धर्म से विरुद्ध ठहराया है। ऐसी दशा मे इन लोगों का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है क्योकि जब उपदेश द्वारा भी जीव-रक्षा करना इनके मत से पाप है तब दूसरे उपायो से तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही पाप होगा ॥६१॥

(हे) "गोसाला ने बचावियो तो,
बधियो घणो मिथ्यात।
पाप लागो श्री वीर ने जी,
एवी मन में राखे वात ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—वे लोग स्पष्ट रूप से तो नही कहते किन्तु मन मे यह बात रखते है कि भगवान् महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया तो बहुत मिथ्यात्व वढ़ा इसलिए भगवान् को पाप लगा। यदि भगवान् गोशालक को न बचाते तो इतना मिथ्यात्व न बढ़ता ॥६२॥

(उत्तर) गोसाला ने बचावियो जी,
हूवो समकित धार ।
श्रीमुख निरखो जिन कियो जी,
जासी मोच्च मँझार ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥

साधू गोशाला तणा जी,
वीर रे शरणे आय ।
तिरिया घणा संसार थी जी,
भाख्यो सूतर माँय ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

श्रावक शरणे आवियो जी,
गोसाला ने छोड़ ।
साधू-श्रावक श्री वीर रा न,
सक्यो गोशालो मोड ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

मिथ्याती मिथ्यात सें जी,
हुवा गोशाला रा शीप ।
मिथ्यात बधियो किण तरे जी,
खोटी थाँरी रीश ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जो लोग यह मानते है कि भगवान ने गोशालक को बचा लिया तो बहुत मिथ्यात्व वढ़ा। उनकी यह मान्यता भूल भरी है क्योंकि गोशालक को बचा लेने से कौन-सी बुराई हुई क्योंकि उसे स्वयं को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो गई थी और श्री वीर भगवान् ने अपने श्रीमुख से यह फरमाया था

कि गोशालक मोक्ष जायगा। इस प्रकार उसकी तो हुण्डी सिकर चुकी है। जो लोग जीव-रक्षा में पाप बतला कर अनन्त संसार बढ़ा रहे है उनकी अपेक्षा गोशालक लाख दर्जे अच्छा है।

इस प्रकार उस स्वयं की तो हुण्डी सिकर ही चुकी है और शास्त्रों मे यह भी बतलाया गया है कि गोशालक के बहुत से साधु गोशालक को छोड़ कर वीर भगवान् की शरण मे आ गये थे और वे अपना आत्म कल्याण कर संसार-सागर से पार हो गये थे। इसी प्रकार गोशालक के बहुत से श्रावकों ने भी गोशालक के मत को छोड़ कर वीर भगवान् के शुद्ध मार्ग को स्वीकार कर लिया था किन्तु वीर भगवान् के किसी साधु या श्रावक को गोशालक अपने मत की तरफ न झुका सका था। जो लोग पहले से ही मिथ्यात्वी थे वे मिथ्यात्व में ही गोशालक के शिष्य बने थे। इसलिए यह मानना कि "गोशालक को बचाने से बहुत मिथ्यात्व बढ़ा था" बिल्कुल गल्त है ॥९२–९६॥

श्रावक गोसाला तणा जी,
त्रस री नहीं करे घात।
कन्द मूल पिण ना भखे जी,
या सूत्र भगोती में बात ॥ चतुर० ॥ ९७ ॥

तप तो सराहो तेहनो तुम,
खोटी करवा थाप।
अनुकम्पा रा द्वेष थी बोलो,
जीव बचावा में पाप ॥ चतुर० ॥ ९८ ॥

भावार्थ:—श्री भगवती सूत्र मे यह बतलाया गया है कि गोशालक के श्रावक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करते और कन्द मूल नहीं खाते है।

तुम (भीषण मतानुयायी) लोग भी उनके तप की तो सराहना करते हो, उनके तप को अच्छा बतलाते हो फिर गोशालक को बचाने मे पाप क्यो कहते हो ? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि तुम लोगो को 'अनुकम्पा' से द्वेष है इसीलिए अनुकम्पा (जीव-रक्षा) से पाप बतलाते हो। यह तुम्हारा कथन मिथ्या है ॥६७-६८॥

वलि कपट करी कुगुरु कहे,
"दो साधु बचाया नाय।"
खोटा न्याय लगावतां जी,
कह्या कठा लग जाय ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थ:—वे लोग कहते हैं कि "गोशालक को बचाने से धर्म होता तो केवलज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामी ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति इन दो मुनियो को क्यो नहीं बचाया था ? उन दो मुनियो को नही बचाया था इसलिए हम कहते हैं कि मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना पाप है।" इस प्रकार वे लोग जीवरक्षा मे पाप की स्थापना करते है किन्तु यह उनकी अज्ञानता है ॥६६॥

(उत्तर) आयुष आयो तेहनो जी,
देख्यो श्री जिनराज।

निश्चय वाल्यो ना टाल्यो (जी),
ज्याँ सारया तम काज॥ चतुर० ॥१००॥

भावार्थः—शास्त्र के मूल पाठ मे तथा टीका मे यह कहीं भी नही कहा है कि भगवान् महावीर स्वामी ने मरते प्राणी की प्राण-रक्षा करने मे पाप जान कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को नहीं बचाया था बल्कि टीकाकार ने यह साफ साफ लि दिया है कि गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरना अवश्यंभावी था इसलिए भगवान् ने उनकी रक्षा नहीं की। वह टीका यह है:—

"अवश्यम्भावि ावत्वाद्धेत्यवसे म्"

अर्थात्:—गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरना अवश्य होनहार था इसलिए भगवान् उनकी रक्षा न कर सके। यदि रक्षा करने मे पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीव-रक्षा मे पाप होना जान कर भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नही की परन्तु टीकाकार ने ऐसा नहीं कह कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को नहीं बचाने का कारण 'अवश्य होनहार' बतलाया है। अतः गोशालक की प्राण-रक्षा करने से भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या है ॥१००॥

(हे) "गोतमादिक गणधर हूँताजी,
छद्मस्थ लब्धि ना धार।
ज्यायें क्यों बचाविया जी,
शीतल लेश्या निकार ॥ चतुर० ॥१०१॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि "केवलज्ञानी होने के कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना जानते थे तथापि गौतमादि गणधर छद्मस्थ थे और लब्धि-धारक भी थे उन्हे इस बात का ज्ञान नहीं था। यदि रक्षा करने मे धर्म था तो उन्होंने शीतल लेश्या निकाल कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा क्यों नही की ? इससे जाना जाता है कि जीव-रक्षा करने मे धर्म नहीं है ॥१०१॥

(उत्तर) जिन नहिं जिन सरा कह्या जी,
गोतमादि गणधार ।
जाणे आयु सर्व नो जी,
वलि होनहार निरधार ॥ चतुर० ॥१०२॥
धर्मघोष-मुनि जाणियो जी
धर्म रुचि विरतन्त ।
सर्वार्थ-सिद्ध में देखियो वे,
पूरबधर था महन्त ॥ चतुर० ॥१०३॥

भावार्थः—चार ज्ञान, चौदह पूर्व के धारक गौतमादि गण-धर छद्मस्थ होते हुए भी केवली के समान कहे गये है। वे उपयोग लगा कर आयु पूर्ण होना और अवश्यम्भावी होनहार को भी जान सकते है। जैसे कि पूर्वधारी महात्मा धर्मघोष आचार्य ने, छद्मस्थ होते हुए भी, उपयोग लगा कर अपने शिष्य धर्मरुचि मुनि का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लिया था और उनकी आत्मा को सर्वार्थसिद्ध मे देखा था। अतः गौतमादि गणधर सुनक्षत्र

और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानतापूर्ण है ॥१०२-१०३॥

आयुष नि रो जाणता जी,
गोतमादि गणधार ।
विहार मुन्याँ ने रावता जी,
ज्यां में दोष न लिगार ॥ चतुर० ॥१०४॥

निश्चय देख्यो ज्ञान में जी,
ते किम टारचो जाय ।
ते जाणी ज्ञानी- नि जी,
न शक्या त्याँने बचाय ॥ चतुर० ॥१०५॥

भावार्थः—गौतमादि गणधर भी उन मुनियो की आयु पूर्ण होना और होनहार को जानते थे ।

हम एक दूसरी बात और बताना चाहते हैं कि तेरहपंथी लोग मरते जीव की रक्षा करने मे पाप कहते हैं किन्तु किसी साधु को विहार कराने मे पाप नहीं कहते है ऐसी दशा मे भगवान् महावीर स्वामी ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को वहाँ से विहार क्यों नही करा दिया ? क्योकि केवलज्ञानी होने के कारण उनको यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जलावेगा। ऐसी खबर रहने पर भी भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जो वहाँ से अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान् को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का गोशालक की क्रोधाग्नि से जल कर

मरना अवश्यम्भावी भाव है यह कैसे टाला जा सकता है। इसी लिए भगवान् ने तथा गौतमादि गणधरों ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करने से पाप होना जान कर नहीं ॥१०४-१०५॥

सो कोसाँ वेर न ऊपजे जी,
अरिहंत अतिशय विशेष।
समवसरण में ऊपनो ते,
होणहार री रेष ॥ चतुर० ॥१०६॥
निश्चय होण रा नाम से जी,
गोशाल बचाया में पाप।
उलटा न्याय लगाय ने जी,
थें कर रया खोटी थाप ॥ चतुर० ॥१०७॥

भावार्थः—शास्त्र मे कहा है कि तीर्थङ्करों का ऐसा अतिशय होता है कि वे जहाँ विराजते है वहाँ सौ कोस तक किसी तरह का उपद्रव नहीं होता। सभी प्राणी वैरभाव को छोड़ कर परस्पर मित्र मित्र की तरह रहते है। भगवान् का ऐसा विलक्षण अतिशय होते हुए भी गोशालक ने भगवान् महावीर स्वामी के सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को जला दिया यह होनहार का ही प्रभाव था। अन्यथा भगवान् के अतिशय से ही यह बात नहीं हो सकती थी। जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे? गोशालक की क्रोधाग्नि से सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान् ने उनकी रक्षा के लिए कुछ प्रयत्न नहीं किया था, मरते जीव की

रक्षा मे पाप होना जान कर नहीं। अतः सुनक्षत्र और सर्वानु-भूति के अवश्यम्भावी होनहार का उदाहरण देकर जीव-रक्षा मे पाप बताना मिथ्या है ॥१०६–१०७॥

हेतु सुण समझसी जी,
जां में द्ध विवे ।
पक्षपात तज पा सी जी,
निर ल म त एक ॥ चतुर० ॥१०८॥

भावार्थः—जिनके हृदय मे शुद्ध विवेक है ऐसे विवेकी पुरुष पक्ष-पात को छोड़ कर सत्य हेतु और दृष्टान्तो द्वारा समझाये गये वास्तविक एवं सत्य तत्त्वों को समझेगे वे निर्मल समकित रूप रत्न को प्राप्त करेगे ॥१०८॥

मिथ्या-खण्डण ने करी जी,
जो जुगत धर न्याय ।
शुद्ध वे श्रद्धा थ ां जी,
आनंद मङ्गल थाय ॥ चतुर० ॥१०९॥

संवत उगणीसे तणे जी,
छियासी रे साल।
पाढ़ शुक्ला पंचमी जी,
वरते मंगल माल ॥
चतुर र समझो ज्ञा विचार ॥११०॥

भावार्थः—मिथ्या पक्ष को खण्डन करने के लिए यह ढाल सत्य युक्ति और न्याय पूर्वक जोड़ी गई है जो कि संवत् १६८६ के आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी को पूर्ण हुई है। जो पुरुष इन पर शुद्ध भाव पूर्वक श्रद्धा करेंगे और सत्य तत्त्वों को समझेंगे वे समकित रत्न को प्राप्त कर अक्षय सुख के निधान मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे ॥१०६-११०॥

॥ इति छठी ढाल सम्पूर्ण ॥

❀ दोहा ❀

बल निबल ने मारता, देख्या दी दयाल।
हितकर धर्म परूपियो, जीवदया तिपाल ॥ १ ॥

भावार्थः—इस संसार में सबल यानी बलवान् प्राणी निर्बल यानी कमजोर को मारता है। इस बात को देख करुणा-सागर, दीनदयाल तीर्थङ्कर भगवान् ने समस्त जीवों के लिए हितकारी दयाधर्म की प्ररूपणा की है ॥१॥

ि रबल जीव बचायवा, लाँ ने समझाय।
त्यामें पाप बतावियो, केइ ति च य ॥ २ ॥

भावार्थः—सबल प्राणी को समझा कर निर्बल प्राणी की रक्षा करना दयाधर्म है। किन्तु कितनेक बुद्धि लोग इस कार्य मे पाप बतलाते हैं ॥२॥

ंसादि छुड़ाय दे, चित्त वस्तु रे साय।
ए ान्त पाप तिण में कहे, केइ कुबुद्धि उ ाय ॥ ३ ॥

भावार्थः—कोई दयालु पुरुष किसी मांसाहारी पुरुष को रोटी या चने (भूंगड़े) आदि अचित्त पदार्थ देकर उसका मांसाहार छुड़ा दे तो इस कार्य मे कितनेक बुद्धि लोग एकान्त पाप मानते हैं ॥३॥

कहे मिश्र श्रद्धाँ नहीं, श्रद्धयाँ हो मिथ्यात ।
धर्म पाप एकान्त है, यो खोटो पखपात ॥ ४ ॥
अल्प-पाप बहु-निर्जरा, सूत्र भगोती देख ।
मूलपाठ प्रभु भाखियो, (तेथी) कूड़ो थारो लेख ॥ ५ ॥

भावार्थ:—कारण की अपेक्षा कार्य के तीन भेद हो जाते है। यथा:—(१) एकान्त धर्म (२) एकान्त पाप (३) मिश्र अर्थात् धर्म और पाप सम्मिलित। इस प्रकार तीन भेद होते हैं किन्तु कुछ लोग मिथ्या पक्षपात मे पड़कर कहते है कि हम (१) एकान्त धर्म और (२) एकान्त पाप ऐसे दो ही भेद मानते हैं तीसरा मिश्र भेद नहीं मानते।

उन लोगो का यह कथन मिथ्या है क्योंकि भगवती सूत्र के मूल पाठ मे 'अल्प पाप बहुनिर्जरा' ऐसा पाठ कहा गया है जिसका अर्थ है 'थोड़ा पाप और बहुत निर्जरा।' भगवती सूत्र के इस पाठ से मिश्र भेद स्वतः सिद्ध है। उस मिश्र भेद को न मानना शास्त्र विरुद्ध है ॥४-५॥

द्वेष अनुकम्पा -दान रो, ज्याँ रे है घट माँय ।
तिणाने सत्पथ लायवा, ज्ञानी इम समझाय ॥ ६ ॥

भावार्थ:—जिन लोगों के हृदय मे अनुकम्पा से और दान से द्वेष है उन्हे समझाने के लिए ज्ञानी पुरुष निम्न लिखित दृष्टान्त देते है ॥६॥

ऋतु चौमासो आवियो, वर्षा वर्षे जोर ।
लट गजाई डेंडका, उपन्या लाख किरोर ॥ ७ ॥

भावार्थः—वर्षा ऋतु का समय आने पर किसी समय जोर से बरसात वर्षी जिससे लाखों करोड़ो लट, गजाई और मेढक आदि बरसाती जीव पैदा हो गये ॥७॥

ए वेश्या एक साधु रा भक्त नो म हुलसाय।
तिण वेला में नीसरया, बैठा गाड़ी माँय ॥ ८ ॥
साधुभक्त तो साधु रा, दर्शन केरे काम।
वेश्या अभिलाषी तिको, जावे वेश्या धाम ॥ ९ ॥

भावार्थः—ऐसे समय मे एक साधुभक्त पुरुष के हृदय में साधुओं के दर्शन करने की इच्छा हुई और एक वेश्यागामी पुरुष के हृदय में वेश्या के यहाँ जाने की इच्छा हुई। दोनो पु घर से नि कर घोडा गाड़ी मे बैठे। साधु भक्त ओं के न करने के लिए जाने लगा और वेश्यागामी पुरुष वेश्या के घर जाने लगा ॥८-९॥

गाड़ी चलताँ चगदिया, जीव न्ता जाय।
इत ा में बिजली पड़ी, दोइ वा ते ाँय ॥ १० ॥
धर्मी पापी कोण छे, इण दो ाँ रे ाँय।
हिंसा याने सारखी, देवो र्थ बताय ॥ ११ ॥

भावार्थः—घोड़ा गाडी के चलने से उसके नीचे अनन्ता जीव चीथे गये यानी कचरे गये। इतने मे अकस्मात् बिजली गिरी जिससे वे दोनो पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो गये।

जो लोग एकान्त पाप और एकान्त धर्म ऐसे दो ही भेद मानने का हठाग्रह करते है अब उन लोगो से पूछना चाहिए कि

इन दोनो पुरुषो को गाड़ी के नीचे चींथे जाने वाले जीवो की हिंसा बराबर लगी है। अब बतलाओ इन दोनो मे एकान्त पापी कौन है और एकान्त धर्मी कौन है ? ॥१०-११॥

तब तो ते चट ऊचरे, मारा दर्शन काम।
आता रस्ता में मुआ, तिणरा शुध परिणाम ॥ १२ ॥

धर्म लाभ तिणने हुवो, हिंसा तणो तो पाप।
गाड़ी आरंभ थी हुवो, यूँ बोले ते साफ ॥ १३ ॥

वेश्या अर्थे नीकल्यो, तिण में धर्म न कोय।
एकान्त-पाप रो काम ए, यो साँचो लो जोय ॥ १४ ॥

वेश्या अर्थी जाणज्यो, एकान्त-पाप रे माँय।
दर्श(न)अर्थि गाड़ी चढ्यो, धर्म-पाप बेहु थाय ॥ १५ ॥

भावार्थः—तब वे लोग उत्तर देते हैं कि जो हम लोगो के (साधुओ के) दर्शन के लिए आता हुआ रास्ते मे मर गया, उस पुरुष के परिणाम शुद्ध थे। इसलिए उन शुद्ध परिणामो की अपेक्षा उसे धर्म लाभ हुआ और घोड़ा गाड़ी चढ़ने से जो आरम्भ हुआ उस हिंसा का उसे पाप लगा और जो पुरुष वेश्या के यहाँ जा रहा था उसे एकान्त पाप हुआ ! तात्पर्य यह है कि वेश्यागामी पुरुष का कार्य और परिणाम दोनो बुरे (अशुद्ध) थे इस लिए एकान्त पाप लगा और साधुओ के दर्शनार्थी पुरुष के परिणाम शुद्ध थे जिसका उसे धर्म लाभ हुआ और गाड़ी पर चढ़ने का आरम्भ हुआ, जीवो की हिंसा हुई जिसका उसे पाप लगा अर्थात् दर्शनार्थी पुरुष को न तो एकान्त धर्म हु ा है और न

एकान्त पाप, किन्तु उसे मिश्र यानी धर्म और पाप दोनों हुए हैं ॥१२-१५॥

मन्दमति यों बोलिया, तब ज्ञानी कहे एम ।
मिश्र तुमे नहिं मानता, (हिवे) बोली बदलो केम ॥ १६ ॥

भावार्थः—उन लोगो के इस उत्तर को सुनकर ज्ञानी पुरुष कहते है कि "तुम लोग तो मिश्र को नहीं मानते थे। अब तुम अपने वचन से क्यो बदलते हो ? अर्थात् साधुदर्शनार्थी पुरुष के 'धर्म और पाप' इस प्रकार मिश्र भेद को क्यो मानते हो ? ॥१६।

तब पाछा ते यों कहे, दर्शन धर्म रो काम ।
गाडी चढ़नो पाप में, इम जूदा बेहु ठाम ॥ १७ ॥

भावार्थः—तब वे उत्तर देते है कि साधुओ का दर्शन करना धर्म का कार्य है और गाड़ी चढ़ना पाप का कार्य है। ये दोनो अलग अलग है। इस लिए गाड़ी चढ़कर दर्शन के लिए जाने वाले पुरुष को एकान्त पापी या एकान्त धर्मी नहीं कहा जा सकता किन्तु साधु दर्शन से होने वाला धर्म लाभ अलग है और गाडी चढने से होने वाला आरम्भ का पाप अलग है। इसलिए उसे धर्म और पाप दोनो होते है ॥१७॥

तो इमही तुम जाणलो, अनुकम्पा (धर्म) रो ाम ।
आरंभ समझो पाप में, इम जूदा बेहु ठाम ॥ १८ ॥

भावार्थः—तब ज्ञानी पुरुष कहते है कि यही बात अनुकम्पा के विषय मे भी समझनी चाहिए। दुःखी प्राणी

को देखकर जो अनुकम्पा के भाव आते हैं वे शुद्ध परिणाम हैं वे धर्म से है और इसके पश्चात उसके दुःख को मिटाने के लिए जो कार्य किया जाता है वह आरम्भ पाप से है। अनुकम्पा रूप धर्म का कार्य अलग है और आरम्भ का कार्य अलग है। १८॥

अणसरते आरंभ हुवे, दर्शन केरे काम।
बिन आरंभ दर्शन करे, तो चढ़ता परिणाम॥ १९॥
अणसरते आरंभ हुवे, अनुकम्पा रे काम।
बिन आरंभ करुणा करे, तो चढ़ता परिणाम॥ २०॥

भावार्थ:—जैसे साधु दर्शन धर्म का कार्य है किन्तु उसके लिए अणसरता अर्थात् लाचारीवश गाड़ी आदि चढ़ने का जो आरम्भ होता है वह पाप मे है और बिना किसी प्रकार के आरम्भ के जो दर्शन किये जाते हैं वे उससे विशिष्ट है। इसी प्रकार अनुकम्पा धर्म का कार्य है किन्तु उसके लिए अणसरता अर्थात् लाचारीवश जो आरम्भ करना पड़ता है वह पाप मे है और जो बिना आरम्भ किये अनुकम्पा की जाती है वह उससे विशिष्ट है॥१९-२०॥

अनुकम्पा उठाय ने, दर्शन थापे धर्म।
जो या श्रद्धा धारसी, जाड़ा बँधसी कर्म॥ २१॥

भावार्थ:—साधु दर्शन और अनुकम्पा दोनो एक सरीखे कार्य है किन्तु जो पुरुष साधुदर्शन को तो धर्म का कार्य बतलाता है और अनुकम्पा को एकान्त पाप मे बतलाता हैं उसकी यह श्रद्धा और प्ररूपणा मिथ्या है। ऐसी मिथ्या श्रद्धा और प्ररूपणा करने वाला पुरुष गाढ़ कर्मों से लिप्त होता है॥२१॥

कीधा कराया भल जाणिया, दर्शन ध परिणाम।
कीधा कराया भल जाणिया, करुणा आछो काम ॥ २२ ॥
यो ग़ो न्याय न जाणियो, पड़या टे अनजाण।
करण जोग बिगाड़िया, मिथ्यामति अयाण ॥ २३ ॥

भावार्थ.—जिस प्रकार साधु दर्शन करना, कराना और करने वाले की अनुमोदना करना ये तीनों करण अच्छे हैं उसी प्रकार अनुकम्पा करना, कराना और अनुमोदना ये तीनों करण अच्छे हैं। यह दर्शन और अनुकम्पा के विषय मे समान न्याय है किन्तु जो इस समान न्याय को न मान कर दर्शन को तो धर्म मे बतलाता है और अनुकम्पा को पाप बतलाता है वह मिथ्यात्वी अज्ञानी है। उसने तीन करण और तीन योग को बिगाड़ दिया है ॥२२-२३॥

कूड़ा हेतु लगाय ने, मिथ्य त थापन्त।
ते खं न करूँ जुगत से, सु ज्यो धर मा ंत ॥ २४ ॥

भावार्थ:—उन लोगो ने खोटे हेतु और खोटे दृष्टान्त लगा कर मिथ्यामत की स्थापना करने का खोटा प्रयत्न किया है अब सत्हेतु और सत् दृष्टान्तो द्वारा उसका खण्डन किया जाता है। अतः ध्यान पूर्वक सुनो ॥२४॥

सात दृष्टान्त तेने दिया, मिथ्या थाप पन्थ।
म्लेच्छ वचन ख आणिया, नाम धरायो संत ॥ २५ ॥
लज्जा उपजे म्लेच्छ ने, एवा खोटा न्याय।
तैं तों कथता ना रचा, जैनी म धराय ॥ २६ ॥

ज्याँरी बुद्धि निरमली, ते सुण दे धिक्कार।
मूरख सुण मोहित हुआ, डूबा काली धार ॥ २७॥

भावार्थः—अपने मिथ्या पन्थ की स्थापना करने के लिए उन्होंने सात दृष्टान्त दिये है। वे सातों दृष्टान्त ऐसे घृणित और खोटे हेतुपूर्ण है जिनका कथन करते हुए एक म्लेच्छ को भी लज्जा आती है किन्तु जैन साधु का नाम धरा कर ऐसे घृणित और खोटी युक्तियों से पूर्ण दृष्टान्त देते हुए उन्हें न लज्जा ही आई है और न परलोक का भय ही आया है। ऐसे दृष्टान्तों को सुनकर निर्मल बुद्धि वाले विवेकी पुरुष तो उन्हे त्याज्य समझ कर धिक्कार देते है किन्तु मूर्ख पुरुष उन्हे सुनकर उनमें फँस जाता है और अपनी आत्मा का अधःपतन कर लेता है। ७५-२७॥

हिवे खण्डन सातों तणा, कहूँ बहुले विस्तार।
भवियण! भावभरी सुणो, ज्ञान-दृष्टि दिल धार ॥ २८॥

भावार्थः—ग्रन्थकर्त्ता कहते है कि अब उन सात दृष्टान्तो का विस्तार पूर्वक खण्डन किया जाता है। अतः हे भव्य जीवो! हृदय मे ज्ञान दृष्टि रख कर जिज्ञासा बुद्धि पूर्वक एकाग्र चित्त से श्रवण करो जिससे आत्मा का कल्याण हो ॥२८॥

: ढा -सातवीं :



(तर्ज—वीर सुणो म्हारी वीनती)

न्दमूल भखे एक मानवी,
　　भूख दुखड़ो हो सह्यो हिं जाय।
समझू तेने छोड़ाविया,
　　अचित वस्तु थी हो दीवी भूख िटाय ॥
　　　　वियण जि धर्म ोलखो ॥ १ ॥

न्दमूल भूखा पुरुष री,
　　करुणा में हो बतावे पाप ।
या श्रद्धा मन्दाँ णी,
　　ोटी दीसे हो ज्ञानी ने ाफ ॥ भ० ॥ २ ॥

भावार्थः—जैसे भूख से दुःखी बना हुआ कोई पुरुष कन्द-मूल खा रहा था। उस पर अनुकम्पा करके किसी दयालु पुरुष ने उसे रोटी या चने (भूंगड़े) आदि अचित्त वस्तु खाने के लिए दे दी जिससे उसकी भूख भी मिट गई और कन्दमूल के जीवो की हिंसा भी टल गई। इस प्रकार की अनुकम्पा मे जो पाप बतलाता है वह मन्दबुद्धि है। उसकी यह मान्यता एकान्त मिथ्या है ॥१-२॥

इस एकान्त पाप-परूपताँ,
नहिं शङ्के हो कुगुरु काला नाग।
इण श्रद्धा रो प्रश्न पूछियाँ,
चर्चा सें हो जावे दूरा भाग ॥ भ० ॥ ३ ॥

भावार्थः—इस प्रकार अनुकम्पा मे एकान्त पाप की प्ररूपणा करते हुए कुगुरु जरा भी शंकित नहीं होते। उनके हृदय मे यह डर नही होता कि इस प्रकार की खोटी प्ररूपणा कर हम भोले प्राणियो को भ्रम मे डाल कर उनका यह भव परभव दोनों बिगाड़ते है किन्तु उनके साथ ही हमारे भी यह भव परभव दोनों बिगड़ते है। ऐसे कुगुरु काले नाग (सर्प) से भी बढ़ कर हैं क्योंकि यदि काला नाग डंक मार दे तो वह तो प्राणहरण कर सिर्फ इस भव का ही अहित करता है किन्तु ये कुगुरु खोटी श्रद्धा रूप मिथ्यात्व मे फँसा कर यह भव परभव दोनो बिगाड़ते हैं।

इस प्रकार खोटी प्ररूपणा करने वाले इन कुगुरुओ को जब इनकी श्रद्धा के विषय मे प्रश्न पूछा जाता है और चर्चा के लिए कहा जाता है तब ये चर्चा करने से दूर भाग जाते हैं ॥३॥

भोला जन भेला करी,
खोटा हेतू हो थोथा गाल बजाय।
घर में घुस घुरकाय ने,
इणविध थी हो रया पन्थ चलाय ॥ भ० ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुषो के साथ चर्चा करने की तो उनकी हिम्मत नही होती किन्तु भोले जीवों के बीच मे

बैठ कर शृगाल की तरह थोथे गाल बजाते हैं। वे कवि के निम्न लिि त पद्य को यथार्थ रूप से चरितार्थ करते है। यथाः—

द बो । दस बोगला, दस बोगों । बच्चा ।
गु जी बैठा गप्पां मारे, चेला जाणे च्चा ॥

अर्थात्ः—दस बोगा (मूर्ख) और दस बोगला (मूर्ख ि यां) तथा दस उन बोगो के बच्चे, इस तरह बीस तीस व्यक्तियो को एकत्रित कर उनके बीच मे बैठ कर गुरुजी गप्पें मारते है। वे बेचारे बोगे उन्हे सच्चा जानते है।

अथवा ये लोग अपने पन्थ को चलाने के लिए दूसरी और चाल चलते हैं। वे गृहस्थियो के घर जाकर उन्हें पना स ारिक (कौटुम्बिक) रिश्ता, सम्बन्ध आदि बतला कर तथा उनकी आजीविका, नौकरी आदि छुड़ा देने का डर बतला कर उन्हे अपने पन्थ मे रहने के लिए बाध्य करते हैं। इस प्रकार ये लोग अपना पन्थ चलाते है ॥४॥

णो दृष्टान्त हिवे तेहना,
ि णा वि बोले हो ते ाल-पंपाल।
बुद्धवन्त द्ध थी पर ले,
निरबुद्धी हो ँसे माया-जाल ॥ ० ॥ ५ ॥

भावार्थः—उन्होने जो दृष्टान्त दिये हैं अब वे बतलाये जाते है उन्हें सुनो। उनके दृष्टान्तो को सुनकर बुद्धिमान् पुरुष तो उनकी बुद्धि की परीक्षा कर लेता है। सिर्फ निर्बुद्धि ही उनके माया जाल मे फँसते हैं ॥५॥

(कहे) "सौ मनुष्य ने मरता राखिया,
मूला गाजर हो जमीकन्द खवाय ।
(वले) मरता राखिया सौ मानवी,
काचो पाणी हो त्याँने अणगल पाय" ॥ भ० ॥ ६ ॥

इम भोलाँ (ने) भरमायवा,
गाजर मूलाँ रो हो मुख आणे नाम ।
वली होको, मांस, मुरदा तणो,
नाम लेवे हो भ्रम घालण काम ॥ भ० ॥ ७ ॥

भावार्थः—उन्होंने दृष्टान्त दिये है कि "सौ मनुष्य भूख से मर रहे थे उन्हे गाजर, मूला आदि जमीकन्द खिला कर तथा मांस अथवा मृतकलेवर (मुर्दा का शरीर) खिला कर उनकी भूख मिटा कर उनकी रक्षा कर दी । इसी प्रकार सौ आदमी प्यास से मर रहे थे उन्हे सचित्त कच्चा पानी खूब पिला कर उनकी रक्षा कर दी । सौ मनुष्यो का पेट दुख रहा था उन्हे हुक्का पिलाकर उनका पेट आराम कर दिया तो अनुकम्पा के इन कार्यों मे धर्म कैसे हो सकता है? इसलिए अनुकम्पा करना एकान्त पाप है, मरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप है ।"

इस प्रकार घृणित-पदार्थों का नाम लेकर वे अनुकम्पा मे पाप की स्थापना करते है ॥६-७॥

फासु-अन्न थी मरता राखिया,
तिण रो तो हो छिपावे नाम ।

जाणे खोटी-श्रद्धा चौड़े पड़े,

जद बिगड़े हो ऊँधा-पन्थ रो ाम ॥ भ० ॥ ८ ॥

भावार्थः—उन्होंने ऊपर जो दृष्टान्त दिये हैं उन सब में घृणित एवं निन्दित पदार्थों का नाम लिया है किन्तु अचित्त वस्तु रोटी, चने (भूंगड़े) आदि का नाम नहीं लिया है। ऐसे अचित्त पदार्थों का नाम लेने से उनको यह डर है कि उनकी खोटी श्रद्धा का सारा पर्दा फाश हो जायगा और उस समय इस ऊंधे पंथ का सारा काम ही बिगड़ जायगा क्योंकि इस पन्थ की मान्यता यह है कि किसी प्राणी पर अनुकम्पा करना पाप है, मरते प्राणी की रक्षा करना पाप है। चाहे किसी उपाय से रक्षा की जाय ये लोग रक्षा मे पाप मानते है। अपनी इस खोटी मान्यता का प्रचार करने के लिए मांस, मृतकलेवर आदि घृणित पदार्थों का नाम लेकर भोली जनता को भ्रम मे डालते है।

पाठको ! जरा सोचने की बात है कि एक दयाधर्मी पुरुष के घर मे भूखे आदमी को खिलाने के लिए क्या गाजर मूला, मांस और मृतकलेवर आदि घृणित पदार्थ मिलेंगे या रोटी मिलेगी ? निष्पक्षपात बुद्धि से निस्संकोच यह कहना पड़ेगा कि दयाधर्मी गृहस्थ के घर में तो रोटी मिलेगी। पता नहीं शायद जिन साधु नामधारियो ने ये घृणित पदार्थों के नाम दिये है उनके मतानुयायी गृहस्थो के घर मे भूखे आदमी को खिलाने के लिए मांस और मृतकलेवर आदि पदार्थ ही मिलते हो, किन्तु एक सच्चे दयाधर्मी के घर मे तो ये पदार्थ कदापि नहीं मिल सकते। उसके घर मे तो रोटी मिलती है और रोटी खिलाकर ही वह भूखे आदमी की भूख शांत कर उसकी रक्षा करता है।

फिर प्रश्न यह पैदा होता है कि जब दयाधर्मी गृहस्थ के घर मे सहज स्वाभाविक रूप से रोटी मिलती है और वह किसी भूख से मरते हुए प्राणी पर अनुकम्पा करके उसे रोटी खिला कर उसकी रक्षा करता है तो फिर इन लोगो ने रोटी का नाम न लेकर मांस और मृत कलेवर आदि घृणित पदार्थों का नाम क्यों लिया? तो इसका उत्तर यह है कि इन लोगो को अनुकम्पा से द्वेष है। ये संसार से अनुकम्पा धर्म को उठा देना चाहते हैं। इस लिए अनुकम्पा के प्रति घृणा पैदा करने के लिए ऐसे घृणित पदार्थों के नाम लिए है ताकि भोली जनता इनके इस कपट-जाल को समझ न सके और वह इनके जाल मे फँस जाय किन्तु विद्वानो के सामने इनका यह कपट-जाल छिपा नहीं रह सकता। वे तो इनके इस कपट-जाल को फौरन ताड़ जाते है। जो लोग भोले हैं वे ही इनके कपट जाल मे फँसते है ॥८॥

कोई जीव मारे पंचेन्द्री,
भूख दुखड़ो हो मिटावण काम।
(तिणने) समझाय अचित अन्न से,
पाप मिटायो हो कोई शुध परिणाम॥ भ० ॥ ९ ॥
जीव बचियो पंचेन्द्री,
तिण रो टलियो हो दुःख आरत पाप।
मारणवाला ने टल्यो,
हिंसाकारी हो मोटो कर्म सन्ताप ॥ भ० ॥ १० ॥
इम मरताँ ने मारणहार रे,
शान्ति रता हो साय बुद्धिमान।

एकान्त पाप तिण में कहे,
ते तो भूल्या हो जि -धर्म रो भान॥ भ० ॥ ११ ॥

भावार्थः—जैसे कोई एक भूखा मनुष्य भूख से अत्यन्त व्याकुल होकर अपनी भूख मिटाने के लिए किसी पञ्चेन्द्रिय प्राणी को मारने लगा। उस समय किसी दयालु पुरुष ने उसे पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा का महान् पाप समझा कर उसकी भूख को मिटाने के लिए रोटी चने (भूंगड़े) आदि अचित्त पदार्थ दे दिये जिसे खाकर उसने अपनी भूख शान्त कर ली और पंचेन्द्रिय जीव को छोड दिया इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा हो गई। मृत्यु के भय से होने वाला आर्त्त रौद्रध्यान सम्बंधी पाप-कर्मबंध उसका टल गया और मारने वाला पुरुष पंचेन्द्रिय-जीव की हिंसा से बच गया।

इस प्रकार बुद्धिमान् दयालु पुरुष मारने वाले पुरुष के और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के दोनो के पाप कर्म-बन्ध को टाल देता है। जिसमे किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती ऐसे पवित्र एवं निर्दोष कार्य मे भी जो लोग पाप मानते हैं वे अनुकम्पा के द्वेषी है। उन्होने जैनधर्म का रहस्य ही नहीं समझा है बल्कि अनुकम्पा सरीखे पवित्र कार्य मे पाप बता कर वे अपने जैनी नाम को भी कलङ्कित करते हैं॥ ६-११ ॥

जीव बचे आरंभ मिटे,
तिण में पिण हो बतावे पाप।
ते जीव बचे आरंभ हुवे,
(एवा) प्रश्न पूछे हो खोटी नीयत साफ॥ भ०॥ १२॥

जो पूनम-चन्द्र माने नहीं,
आठम चन्द्र री हो पूछे ते वात ।
चतुर चेतावे तेहने,
पूछण जोगो हो तूँ रह्यो किण भाँत ॥ भ० ॥ १३ ॥

जो वर्णमाला माने नहीं,
शुद्धा-शुद्ध नो हो पूछे शास्त्र उच्चार ।
ते मूरख छे संसार में,
मिथ्या-भाषी हो तिणरे नाहीं विचार ॥ भ० ॥ १४ ॥

इण दृष्टान्ते जाणज्यो,
कुतरकी हो मिथ्यावादी अतोल ।
जीव बचियां पुन्न (धर्म) माने नहीं,
आरंभ ना हो मुख आणे बोल ॥ भ० ॥ १५ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से जीव की रक्षा हो जाय और किसी प्रकार का आरम्भ न हो ऐसे कार्य मे भी जो पुरुष पाप बताता है तो आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय में उसका प्रश्न पूछना उसकी खोटी नियत एव दुर्भावना को जाहिर करता है। उसका वह प्रश्न पूछना व्यर्थ है। जिस प्रकार जो पुरुष पूर्णिमा के चन्द्रमा को नही मानता, उसका अष्टमी के चन्द्रमा के विषय मे प्रश्न पूछना व्यर्थ है तथा जो पुरुष क ख आदि वर्णमाला को ही नही मानता उसका शास्त्र सम्बन्धी शुद्धाशुद्ध उच्चारण के विषय मे प्रश्न पूछना व्यर्थ है उसी प्रकार बिना आरम्भ होने वाली जीव-रक्षा मे भी जो पुरुष धर्म और

पुण्य नहीं मानता, उस आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विषय मे प्रश्न पूछना व्यर्थ है ॥१२-१५॥

जीव बचे रं मिटे,
  पुन्य-धरम हो ति में द्धे ना ।
आरंभ थी जीव ऊगरे,
  एवा श्न ते हो पूछे किण न्याय ॥ ० ॥१६॥

भावार्थः—जिस कार्य से आरम्भ मिट जाय और मरते प्राणी की प्राण-रक्षा हो जाय ऐसे कार्य मे भी जो पुरुष पुण्य और धर्म नही मानता, वह आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय मे कैसे प्रश्न पूछ सकता है ? उसका प्रश्न पूछना निरर्थक है क्योंकि जो अनुकम्पा आरम्भ पूर्वक हो और जो विना ारम्भ के हो सभी प्रकार की अनुकम्पा में वह तो पाप ही मानता है फिर आरम्भ पूर्वक होने वाली जीव-रक्षा के विषय मे प्रश्न पूछने का क्या अर्थ होता है ? यही कि आरम्भ का नाम लेकर अनुकम्पा को बुरी बताया जाय और भोले लोगो को भ्रम मे डाल कर उनके हृदय से अनुकम्पा उठाई जाय।

जिस प्रकार जो पुत्र अपने पिता के अस्तित्व को भी न माने उसका अपने दादा के विषय में प्रश्न पूछने का क्या अर्थ हो सकता है ? यही कि अपनी सारी वंशपरम्परा को वर्णसंकर बताया जाय अथवा उसका अपने दादा के विपय मे प्रश्न पूछना निरर्थक है उसी प्रकार जो पुरुष विना आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा मे भी धर्म न मानता हो उसका आरम्भ से होने वाली जीव-रक्षा के विपय में प्रश्न पूछना व्यर्थ है क्योंकि वह तो जीव-रक्षा मात्र मे ही पाप मानता है॥१६॥

* अग्नि, पाणी, होका नो वली,
त्रस-सांस ना हो सब्द दृष्टान्त थाय।
मुरदा खवाया रो नाम ले,
नहिं लाजे हो जैनी नाम धराय ॥ भ० ॥ १७ ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं :—

पेट दु:खे तडफड़ करे,
जीव दोरा हो करे हाय-विराय।
शान्ति वपराई सौ जणा,
मरता राख्या हो त्यों ने होको पाय ॥
भवियण जिन-धर्म ओलखो ॥ ७ ॥

सौ जणा दुर्भिक्षकाल मे,
अन्न बिना हो मरे उजाड मांय।
कोइक मारे त्रस-काय ने,
सौ जणों ने हो मरता राख्या जिमाय ॥ भवि० ॥ ८ ॥

किणहिक काले अन्न विना,
सौ जणों रा हो जुदा होवे जीव काय।
सहजे कलेवर मुवो पडियो,
कुशले राख्या हो त्यों ने तेह खुवाय ॥ भवि० ॥ ९ ॥

वली मरता देखी सौ रोगला,
संमाई बिना हो ते साजा न थाय।
कोई संमाई करे एक मनुष्य री,
सौ जणां रे हो शांन्ति कीधी बचाय ॥ भवि० ॥१०॥

(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा ७ से १०)

भावार्थः—अनुकम्पा को उठाने के लिए उन लोगों ने का पिलाना, त्रस जीव का मांस खिलाना तथा मुर्दा खिलाना आदि घृणित पदार्थों के दृष्टान्त दिये है। विचारने की बात है कि भूख से मरते हुए पुरुष पर अनुकम्पा करके क्या कोई दयालु पुरुष उसे मांस और मुरदा खिलावेगा ? वे जैनी नाम धराते हैं उन्हें घृणित पदार्थों का दृष्टान्त देते हुए जरा भी शर्म नहीं आई। वे अपने को जैनी कह कर "जैन" शब्द को कलङ्कित करते हैं ॥१७॥

पेट दुः थी हो पीवता,
अचित्त औषधे हो दीनो हो छोड़ाय।
आरम्भ टलियो छहु काय नो,
इण काम में हो हुवो र्म के नाय ०॥ १८ ॥

भावार्थः—उन ोगों से पूछना चाहिए कि "कोई पुरुष पेट दर्द को मिटाने के लिए का पी रहा था। किसी दयालु वैद्य ने उसे अचित्त ौषधि देकर उसका हुक्का छुड़ा दिया। इससे हुक्के मे होने वाला अग्नि पानी आदि छहो काय का ारम्भ टल गया। अब बताओ इस कार्य मे क्या हुआ ? धर्म आ या पाप ? ॥१८॥

दारू पीता दे ने,
छुड़ायो हो ोई दूध पिलाय।
थांरी श्रद्धा से हो,
इण में तु हो धर्म श्रद्धो के नाय ॥ ०॥ १९ ॥

भावार्थः—उन लोगो से पूछना चाहिए कि कोई पुरुष शराब पीता था उसे देख कर किसी पुरुष ने उसे दूध पिला कर शराब पीना छुड़वा दिया। अब तुम अपनी मान्यतानुसार यह बतलाओ कि इस कार्य मे तुम क्या मानते हो ? धर्म मानते हो या पाप ? ॥१६॥

एक मुर्दा रो मांस खवाय ने,
  भूखा री हो मेटतो थो भूख।
दयावन्त दया दिल आणी ने,
  रोटी देई हो मेट दियो दुःख ॥ भ० ॥ २० ॥

अभक्ष छुड़ायो भक्ष थी,
  नर्क निमित्त हो टलाया कर्म।
थांरी श्रद्धा थी कहो,
  इण काम में हो हुवो के नहिं धर्म ॥ भ० ॥ २१ ॥

भावार्थः—उन लोगो से पूछना चाहिए कि—कोई पुरुष भूख से दुःखी हो रहा था उसके इस दुःख को मिटाने के लिए कोई पुरुष उसे मुर्दा का मांस खिला रहा था उसे देखकर किसी दयावान् के हृदय मे दया आई। उसने रोटी खिला कर उसके भूख के दुःख को मिटा दिया। पंचेन्द्रिय का मांस भक्षण नरक का निमित्त कारण है उसको उस दयालु पुरुष ने टाल दिया और भक्ष्य पदार्थ द्वारा उसका अभक्ष्य छुड़ा दिया। अब तुम अपनी मान्यता के अनुसार बताओ कि इस कार्य से उस दयालु पुरुष को क्या हुआ ? धर्म हुआ या पाप ? ॥२०-२१॥

नर मार मनुष्य बचाविया,
मंमाई नो हो एम हेतु लगाय।
एवा कुदृष्टान्त मेलवे,
ते सुणने हो ज्ञानी लज्जा पाय ॥ भ० ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्य को मार कर मंमाई पाड़ी जाती है अर्थात् किसी मनुष्य के सिर मे और शरीर मे तेज छुरी से गहरे घाव कर दिये जायँ। इसके बाद किसी वृक्ष आदि की डाली पर उसके पैर बांध कर शिर नीचे की तरफ लटका दिया जाय। इस प्रकार उस पुरुप को ऊंधा लटका कर नीचे एक चूल्हे पर एक कड़ाही रख दी जाय। उसमे तेल डाल कर उसे खूब गर्म किया जाय। उस उबलते हुए तेल मे ऊपर से ऊंधे लटकाये हुए पुरुष के शरीर से जो खून की बूंदे गिरती जायं उसे 'मंमाई' कहते हैं।

उन लोगो ने एक ऐसा दृष्टान्त दिया है कि किसी ने एक मनुष्य की 'मंमाई' बना कर सौ मनुष्यो की रक्षा की। इसमे धर्म कैसे हो सकता है। इसलिए 'जीव-रक्षा' मे धर्म नहीं हो सकता जीवरक्षा करना पाप है।

ऐसा घृणित दृष्टान्त देकर उन्होने 'जीवरक्षा' को पाप का कार्य बताने की धृष्टता की है। ऐसे घृणित दृष्टान्त सुनकर ज्ञानी पुरुप लज्जित होते है। किन्तु जो निर्लज्ज एवं दयाहीन हैं उन्हें ऐसे दृष्टान्त देते शर्म नहीं आती।

यह दृष्टान्त नही किन्तु दृष्टान्त हैं क्योंकि आज के युग में इस आर्य देश मे कहीं किसी ने इस प्रकार मनुष्य की 'मंमाई' पाड़ कर इलाज करते देखा और सुना है? फिर ऐसे कुदृष्टान्त

देने का उनका क्या अभिप्राय है ? उनका सिर्फ एक ही अभिप्राय है कि ऐसे घृणित दृष्टान्त देकर मनुष्यों के हृदय से दया-अनुकम्पा निकाल दी जाय। यह उन लोगों का कार्य क्या उस मूर्ख के कार्य से कम मूर्खता का कार्य है जो वृक्ष की जिस डाल पर बैठा हो वह कुल्हाड़ी से उसी को काट रहा हो।

पाठको ! जरा उस क्षण की कल्पना कीजिये कि भगवान् ऐसा न करे किन्तु इन लोगो के प्रयत्न से यदि संसार के समस्त प्राणियो के हृदय से दया उठ जाय और सब के सब भीषण-पुरुषो की तरह दयाहीन निर्दयी बन जायें तो उस समय संसार का क्या हाल हो ? क्या कोई एक क्षण भी जीवित रह सकता है ? क्या एक ही क्षण मे संसार मे प्रलय का दृश्य न दिखाई देगा ? क्या उस समय ये लोग जो ऐसे कुदृष्टान्त देकर दया को उठाने का प्रयत्न कर रहे है वे स्वयं जीवित रह सकते हैं ? क्या उस समय के निर्दयी बने हुए लोग ऐसे 'समाई' के कुदृष्टान्त देने वाले इन लोगो की स्वय की 'समाई' पाड़ कर इन्हे अपने कुदृष्टान्त देने का मजा न चखा देंगे ? तब इन लोगो की आँखे खुलेगी कि ऐसे कुदृष्टान्त देकर लोगो के हृदय से दया उठा देने का क्या फल होता है ? यह तो जिस डाली पर बैठा है उसी को कुल्हाड़ो से काटना या स्वयं पैरो पर कुल्हाड़ी मारने सरीखी मूर्खता से कम नही है। खैर ! ज्ञानी पुरुषो के हृदय मे तो ऐसे मूर्ख प्राणियो पर दया होती है। इसलिए अब इनके कुदृष्टान्त का उत्तर दिया जाता है ॥२२॥

कोई ज्ञानी पूछे तेहने,
एक रोगी हो रयो अति दुः पाय।

तिहाँ आयो वैद्य चलाय ने,
मंमाई पाडण री तिण रे चित में चाय ॥ भ० ॥ २३ ॥
दयावन्ते सहज उपाय थी,
रोगी ना हो दीना रोग मिटाय।
मंमाई थी मरतो नर बच्यो,
पाप धर्म रो हो देवो भेद ब ाय ॥ ० ॥ २४ ॥

भावार्थः—उपरोक्त कुदृष्टान्त देने वालों से ज्ञानी पुरुष पूछते हैं कि—थोड़े समय के लिए तुम्हारा दृष्टान्त मान लिया जाय कि कोई एक पुरुष रोगी है, रोग से वह अत्यन्त दुःख पा रहा है उसे देखने के लिए एक वैद्य वहाँ आया। उसे देख कर उसके रोग को मिटाने के लिए एक मनुष्य की 'ममाई' पाड़ने का विचार करने लगा। इतने मे ही दयावान् वैद्य वहाँ आगया। उसने कोई ऐसी सहज सुलभ अचित्त औषधि उसे देकर उसका रोग मिटा दिया।

इस प्रकार रोगी का रोग शान्त हो गया और 'मंमाई' पाड़े जाने वाले पुरुष के प्राण बच गये। अब तुम (तेरह पन्थी) लोग अपनी मान्यता के अनुसार बतलाओ कि इस कार्य मे धर्म हुआ या पाप ? ॥२३-२४॥

भद्रिक अनुकम्पा करे,
अल्पारम्भी हो हलुकर्मी जोय।
महारम्भी महा पापि हो,
तिण रे घट में हो करुणा किम होय ॥ भ० ॥ २५ ॥

भावार्थः—कोई भद्रपरिणामी, अल्पारम्भी और हलुकर्मी जीव ही अनुकम्पा कर सकता है किन्तु महारम्भी और महापरिग्रही पुरुष अनुकम्पा नहीं कर सकता। उसके हृदय में अनुकम्पा हो ही कैसे सकती है? ॥२५॥

मोटी हिंसा त्रस-काय नी,
थावर नी हो छोटी सूत्र में जोय।
आवश्यक, उपासक दशा,
भगोती में हो प्रभु साखी सोय ॥ भ० ॥ २६ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने आवश्यक सूत्र, उपासक दशाङ्ग सूत्र और भगवती सूत्र में त्रसजीव की हिंसा को स्थूल (बड़ी) हिंसा बतलाया है और स्थावर जीवों की हिंसा को सूक्ष्म (छोटी) हिंसा कहा है। इसी प्रकार त्रस जीव की हिंसा करने वाले को महारम्भी और स्थावर की हिंसा करने वाले को अल्पारम्भी कहा है ॥२६॥

मोटी हिंसा जूठ चोरी री,
श्रावक रे हो व्रत री मर्याद।
अल्पारम्भी श्रावक कह्या,
आँख खोली हो देखो संवाद ॥ भ० ॥ २७ ॥

भावार्थः—श्रावक के स्थूल हिंसा, स्थूल मृषावाद और स्थूल चोरी का त्याग होता है। इसलिए श्रावक अल्पारम्भी कहा गया है ॥२७॥

दया भाव दिल ने,
सौ मि ां रा हो बचा ाी ।
ते अल्पारम्भी ज ज्यो,
अनु म्पा रो हो यो पिछा ॥ भ० ॥ २८ ॥

अल्पारम्भी र हुवे,
त्रस जी ने हो ते मारे केम ।
अनुकम रणो,
थां तजियो हो बो रो ने ॥ भ० ॥ २६ ॥

भावार्थः—जो दयालु पुरुष हृदय में दया लाकर सौ मनुष्यों के प्राण बचावेगा उसे अल्पारम्भी समझना चाहिए क्योंकि अल्पारम्भी पुरुष के हृदय में ही अनुकम्पा आ सकती है, महारम्भी के नहीं। वह अल्पारम्भी पुरुष त्रस जीव की हिंसा कैसे कर सकता है? और त्रस जीवों मे भी मनुष्य सरीखे पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा कैसे कर सकता है? अर्थात् वह मनुष्य की हिंसा कदापि नहीं कर सकता। फिर भी उन लोगो ने निर्लज्ज होकर तथा वचन का छ भी ख्याल न करके अनुकम्पा को उठाने के लिए ऐसा घृणित दृष्टान्त दिया है ॥२८-२६॥

एकेन्द्री पंचेन्द्री ारीखा,
एवा बोले हो कुगुरु कूड़ा बोल ।
धान मांस सरीखो कहे,
चर्चा कीधाँ हो खुल जावे पोल ॥ भ० ॥ ३० ॥

भावार्थः—कुगुरु कहते है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनो सरीखे हैं अर्थात् गेहूँ, जौ आदि धान और बकरा दोनों एक सरीखे हैं। गेहूँ की रोटी और बकरे का मांस दोनों एक सरीखे हैं। परन्तु कुगुरुओं का यह कथन नितान्त मिथ्या है। इस विषय में चर्चा करने पर उनकी पोल खुल जाती है ॥३०॥

धान अचित्त खावो तुम्हें,
मांस अचित्त हो खावो के नाँय ?
तब कहे 'म्हे खावाँ नहीं,'
माँस आहारे हो महा कर्म बंधाय ॥ भ० ॥ ३१ ॥
मांस आहार नरक हेतु है,
ठाणायंग हो उवाई रे माँय ।
म्हें साधू बाजाँ जैन रा,
मांस खादे हो साधुता उठ जाय ॥ भ० ॥ ३२ ॥

भावार्थः—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहने वाले उन कुगुरुओं (भीषण मतानुयायी साधुओं) से पूछना चाहिए कि—जैसे गेहूँ आदि धान की बनी हुई अचित्त रोटी तुम खाते हो वैसे ही अचित्त मांस तुम खा सकते हो या नहीं ?

तब तो वे कहते है कि "हम जैन के साधु कहलाते हैं, मांस कैसे खा सकते है ! मांस खाने से महाकर्मबन्ध होता है। ठाणाङ्ग और उववाइ आदि सूत्रों मे 'मांस भक्षण' नरकगमन का कारण कहा गया है। मांस खाने से हमारी साधुता नष्ट हो जाती है ॥३१-३२॥

मांस, धान एक   री   ,
मूण्डा थीं हो तुम्हें कहता एम ।
काम पड्यो जद बदलिया,
परतीती हो थारी   वे केम ॥ भ० ॥ ३३ ॥

धान (रोटी) मांस अचित बेहू,
धान   वों हो मांस खावो   य ।
तो सरखा हिवे   । रह्या,
किम भो   ँने हो नाख्या भ्रम रे   ंय॥   ०॥ ३४ ॥

भावार्थः—तब उन कुगुरुओं से कहना चाहिए कि—तुम स्वयं अपने मुँह से यह बात कह रहे थे कि धान और मांस दोनों एक सरीखे हैं किन्तु तुम स्वयं अपने व्यवहार मे इसे   ा नहीं लाते अर्थात् धान की बनी हुई रोटी और मांस दोनों अचित्त हैं, इन मे से रोटी तो तुम   ाते हो किन्तु मांस नहीं खाते सो इससे जाहिर है कि धान (रोटी) और मांस दोनो एक सरीखे नहीं हैं। फिर "धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों एक सरीखे है" ऐसा कथन कर तुमने भोले जीवो को भ्रम मे क्यों डाल रखा है ? तुम कहते कुछ और हो और करते कुछ और हो, तो तुम्हारा विश्वास कैसे आ सकता है ? ॥३३-३४॥

धान (रोटी) खादे संजम पले,
मांस   दे हो   धू नर   में जाय ।
(तेथी) सातों दृष्टान्त सरीखा   हीं,
योग्य   योग्य हो त्यां में अन्तर थाय॥भ० ॥ ३५ ॥

भावार्थः—रोटी खाने से साधु के संयम का पालन होता है किन्तु मांस खाने से संयम (साधुता) का नाश हो जाता है और वह नरक का अधिकारी बन जाता है। इसलिए धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहना महा-अज्ञानता है।

इसी प्रकार उन लोगो ने हुक्का पिलाना, गाजर, मूली खिलाना आदि सात दृष्टान्त दिये हैं वे भी एक सरीखे नहीं हैं उनमे भी योग्य और अयोग्य का महान् अन्तर है। इसलिए ऐसे दृष्टान्त देकर भोले लोगो को भ्रम में डालना धोखे-बाजों का काम है ॥३५॥

जो सम परिणामी साधु रे,
धान (रोटी) मांस में हो बहुलो अन्तर होय।
तो गृहस्थ रे सरीखा किम हुवे,
पक्ष छोड़ो हो ज्ञान नयने जोय॥ ० ॥ ३६ ॥

भावार्थः—समपरिणामी साधु के लिए जब धान (रोटी) और मांस मे बहुत अन्तर है तब गृहस्थ के लिए वे दोनो एक समान कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् दोनो एक सरीखे नही हो सकते। इसलिए धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा कहने का मिथ्या पक्ष छोड़ देना चाहिए ॥३६॥

जो मांस धान सरी कहो,
वेहू खाधा हो होसी नि रे धर्म।
वेहू अचित एक सार
थारे लेखे हो नहीं राखणो भर्म ॥ भ० ॥ ३७ ॥

जो ाधु रे सरी ा कहे नहीं,
कौण माने हो तव वचन तीत।
आप थापी आप उथ दी,
थारी श्रद्धा हो परत विपरी ॥ भ० ॥ ३८ ॥

भावार्थ:—जो कुगुरु यह कहते हैं कि 'धान और मांस' एक सरीखे है। उनकी इस मान्यतानुसार इन दोनो चीजों का सेवन करने से मुनि को धर्म होगा किन्तु जो मुनि के लिए इन दोनों चीजो को एक सरीखा न कहे किन्तु दूसरों के लिए एक सरीखा बतावे तो उसके वचन पर कौन विश्वास करेगा ? जो अपने मुख से किसी बात की स्थापना करके अपने ही मु से उसको उत्थाप दे उसके वचन पर कोई विश्वास नहीं ता प्रत्युत लोग उसे धूर्त और धोखेबाज कहते हैं ॥३७-३८॥

जो धु रे बेहू सरीखा कहे,
तो लोकां में हो धुर धुर बहु थाय।
मांस धान जुदा हे,
झूठा बोला री हो कुण पत्त बंधाय ॥ भ० ॥ ३९ ॥

धान री ा कहे,
ाधाँ रे हो केताँ लाजे मूढ।
एहवो उल्टो पंथ तो जालियो,
त्याँ रे केड़े हो बूडे कर कर रूढ ॥ ० ॥ ४० ॥

भावार्थः—'धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा बताने वाले कुगुरु अपने मन मे यह बात जानते है कि यदि हम धान (रोटी) और मांस को साधु के लिए एक सरीखा बतलावेगे तो लोगो से हमारी निन्दा होगी और लोग घुर घुर कर हमारे ऊपर थूकेंगे। यह सोच कर वे कुगुरु अपने लिये तो धान और मांस को अलग अलग कहते है, धान और मांस को एक सरीखा न मान कर उन दोनों में महान् अन्तर डाल देते है किन्तु दूसरों को वे यह उपदेश देते है कि 'धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनो एक सरीखे है।

उन कुगुरुओ की इस भेद नीति को देख कर लोग समझ जाते हैं कि ये लोग जैसा कहते है वैसा करते नहीं। ये लोग कहते कुछ और है और करते कुछ और है। ये लोगो को उपदेश कुछ और देते है और आप स्वयं आचरण कुछ और करते हैं। ये लोग "धान और मांस को अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को एक सरीखा" कहते है किन्तु इस बात को ये अपने आचरण मे नही लाते। इस बात को अपने (साधुओ के) आचरण मे लाते हुए लज्जित होते है। अतः यह पन्थ उल्टा पन्थ है और लोगो को भ्रम मे डालने वाला जाली (धोखेबाज) पन्थ है। जो ऐसे जाली पन्थ के जाल मे फँसेगा वह अपने अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवा कर फिर अनन्त काल तक संसार परिभ्रमण करेगा ॥३९-४०॥

मांस न खावे साधुजी,
  फासुक पिण हो जाणे नरक रो स्थान।
अन्न मांस सरीखो नहीं,
  साधु श्रावक हो करे अ जल पान ॥ भ० ॥ ४१ ॥

भावार्थः—प्रासुक और अचित्त होने पर भी साधु मांस नहीं खाते बल्कि उसे नरकगमन का कारण जानते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अन्न और मांस दोनो एक सरीखे नहीं हैं। इसीलिए साधु और श्रावक अन्न जल का तो सेवन करते हैं किन्तु मांस का सेवन नहीं करते हैं ॥४१॥

जो श्रावक ास खावे नहीं,
दूजा ने हो ावे के ।
अनुकम्पा उठायवा,
अणहूँतो हो यो घाल्यो वेस ॥ भ० ॥ ४२ ॥

भावार्थः—जो श्रावक स्वयं मांस नहीं ाता वह दूसरों को अर्थात् जिन पर वह अनुकम्पा करता है उन मनुष्यों को मांस कैसे खिला सकता है? फिर भी अनुकम्पा द्वेषी गुरुओं ने अनुकम्पा उठाने के लिए ऐसे घृणित कुदृष्टान्त दिये हैं जिन्हें सुनने मात्र से किसी भी सहृदय पुरुष को घृणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती ॥४२॥

अचित तो बेहू सारखा,
मांस ाधाँ हो होवे संजम री घात।
ाधाँ संजम पले,
उत्थप गई हो सातों हेतु री बात ॥ ० ॥ ४३ ॥

भावार्थः—अन्न (रोटी) और मांस दोनो अचित्त हैं किन्तु मांस खाने से तो संयम का नाश हो जाता है और अन्न (रोटी) ाने से संयम का पालन होता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो

जाता है कि "धान और मांस अर्थात् एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय दोनों एक समान नहीं है।" इस बात के सिद्ध हो जाने पर उनके दिये हुए गाजर, मूली आदि के सातों दृष्टान्त असंगत एवं मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं ॥४३॥

ए खोटा दृष्टान्त कुगुरु तणा,
ते दीधा हो मेटण दयाधर्म ।
ते समदृष्टि श्रद्धे नहीं,
चौड़े जाणे हो खोटी श्रद्धा रो मर्म ॥ भ० ॥ ४४ ॥

भावार्थः—कुगुरुओं ने उपरोक्त कुदृष्टान्त दयाधर्म को उठाने के लिए दिये हैं। ऐसे खोटे दृष्टान्तो के चक्कर मे समदृष्टि पुरुष नहीं फँसता क्योकि वह तो इस खोटी श्रद्धा के मर्म को भली-भांति जानता है ॥४४॥

जीवाँ री रक्षा जो करे,
मिट जावे हो तेना राग ने द्वेष ।
श्रीमुख प्रभु इम भाखियो,
शंका होवे तो हो दसमो अङ्ग देख ॥ भ० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने अपने श्रीमुख से फरमाया है कि जो पुरुष जीवो की रक्षा करता है उसके राग द्वेष मिट जाते है। यदि किसी को इस विषय मे शंका हो तो दसवे अ० श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में देख सकता है ॥४५॥

रत्न अमोलक देख ने,
मूरख नर हो जाणे तस काच।
जवेरी मिल्या तेने पारखू,
अमोलक हो तब जाण्यो साँच ॥ भ० ॥ ४६ ॥

धर्म है जीव बचावियाँ,
या श्रद्धा हो शुद्ध रतन अमोल।
कुगुरु काँच सरखी कहे,
न्याय न सूजे जो मिथ्या उदय अतोल ॥ भ० ॥ ४७ ॥

भावार्थः—जो काच और हीरे की परीक्षा नहीं जानता ऐसा मूर्ख पुरुष अमूल्य हीरे को काच का टुकड़ा समझता है किन्तु जब उसे हीरो की परीक्षा करने वाले जौहरी मिलते हैं तब वह उसे अमूल्य हीरा समझता है। फिर इसी प्रकार जीवरक्षा रूप धर्म अमूल्य रत्न है किन्तु कुगुरु उसे काच के टुकड़े के समान निरर्थक समझते है क्योंकि उनके महामिथ्यात्व का उदय है इसी से उन्हें न्यायमार्ग दिखाई नही देता किन्तु जब उन्हे सत्गुरु मिलते हैं तब जीव-रक्षा रूप परम धर्म का माहात्म्य उन्हे समझाते है। जो सरल हृदय वाले होते है वे तो वास्तविक तत्त्व को समझ कर शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण कर लेते है किन्तु जो हठाग्रही होते है वे अपने हठ को नहीं छोड़ते। वे अनन्त काल तक संसार-समुद्र से परिभ्रमण करते रहते है ॥४६-४७॥

सत बोल ने जीव बचाय ले,
चोरी त ने हो परजीव बचाय।

वलि करे सुकारज एहवो,
जीव बचावे हो व्यभिचार छुड़ाय ॥ भ० ॥ ४८ ॥
धन तज राखे पर प्राण ने,
क्रोधादिक हो अठारा ही त्याग।
छोड़े छोड़ावे भल जाणने,
परजीवाँ ने हो मरता राखे सुभाग ॥ भ० ॥ ४६ ॥

भावार्थः—दयाधर्मी पुरुष सत्य बोल कर, चोरी छुड़वा कर और व्यभिचार छुड़वा कर तथा इसी प्रकार के और भी सुकार्य करके जीवो की रक्षा करता है। अपने परिग्रह पर से ममत्व उतार कर अर्थात् धन देकर भी वह जीवों की रक्षा करता है। इसी प्रकार अठारह ही पाप छोड़ कर तथा छुड़वा कर और छोड़ने वाले का अनुमोदन कर वह दयाधर्मी पुरुष मरते हुए प्राणियो की प्राणरक्षा करता है ॥४८-४६॥

भूख मरतो हणे पंचेन्दरी,
करुणा कर हो तेने दे समझाय।
फासुक सूंखड़ी देय ने,
जीवरक्षा हो इणविध पिण थाय ॥ भ० ॥ ५० ॥

भावार्थः—भूख से व्याकुल बना हुआ कोई पुरुष किसी पंचेन्द्रिय प्राणी को मार रहा था। किसी दयालु पुरुष ने उसे जीवहिंसा का दुष्परिणाम समझाया और उसे रोटी या चने आदि अचित्त पदार्थ देकर उसकी भूख मिटा दी। इस प्रकार वह पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा के पाप से बच गया और उस मरते हुए

प्राणी की प्राणरक्षा हो गई। इस प्रकार दयालु पुरुष मारने वाले और उसके हाथ से मारे जाने वाले दोनो प्राणियो को पाप से बचा लेता है ॥५०॥

माहण माहण उपदेश थी,
वचाया हो परजीवां रा प्राण।
या सत्य वच ाराधना,
जीवरक्षा हो हुई परधान ॥ भ० ॥ ५१ ॥

भावार्थः—कोई हिंसक किसी जीव को मार रहा हो उस समय उसे 'मा हण मा हण' अर्थात् 'मत मार, मत मार' ऐसा उपदेश देकर उस जीव की रक्षा करना। यह सत्य वचन की आराधना कहलाती है क्योकि तीर्थङ्कर भगवान् का यह फरमान है कि 'मा हण मा हण' अर्थात् 'जीवों को मत मारो, मतमारो' अतः 'मत मारो' ऐसा उपदेश देकर जीव-रक्षा करना सत्य वचन की आराधना है। इससे हिसक हिसा के पाप से बच जाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की प्राणरक्षा हो जाती है। इस प्रकार सत्य वचन की आराधना से दोनों का अर्थात् हिंसक का और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी का दोनों का हित होता है ॥५१॥

चोर लूटे र को,
धन धणी हो रणे ारण धाय।
भाय चोरी छोड़ाय दी,
दोनों री हो रक्षा हुई इ न्याय ॥ ० ॥ ५२ ॥

भावार्थः—कोई चोर दूसरे के धन को चुरा रहा हो उस समय धन का स्वामी उस चोर को मारने के लिए दौड़ता है या चोरी हो जाने पर स्वयं आत्म हत्या करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार चोरी के पाप से चोर और धन के स्वामी दोनो के प्राणनाश की सम्भावना है। दयालु पुरुष चोर को समझा कर चोरी का पाप छुड़वा देता है जिससे चोर की और धन के स्वामी की दोनो की रक्षा हो जाती है ॥५२॥

शील खण्डे एक लम्पटी,
शीलवती हो खण्डण लागी काय।
लम्पट ने समझावियो,
प्राण बचिया हो सती रा धर्म रे साय ॥ भ० ॥ ५३ ॥

भावार्थः—कोई लम्पट पुरुष किसी पतिव्रता सती के शील को खण्डित करने लगा। उस समय अपने शील की रक्षा के लिए वह पतिव्रता सती अपने शरीर का विनाश करने को तय्यार हो गई। उस समय किसी पुरुष ने उस लम्पट को समझा दिया जिससे वह व्यभिचार के पाप से बच गया और उस पतिव्रता सती की प्राण रक्षा हो गई। इस प्रकार लम्पट पुरुष को समझा देने से दोनो का अर्थात् उस लम्पट का और पतिव्रता सती का दोनो का हित होता है ॥५३॥

धन अर्थे हणे एक सेठ ने,
धन धणी हो दीनो परिग्रह त्याग।
प्राण बच्या परिग्रह छुट्यो,
रक्षा हुई हो सत मारग लाग ॥ भ० ॥ ५४ ॥

भावार्थः—धन के लिए कोई किसी सेठ को मार रहा था। उस समय उस सेठ ने परिग्रह (धन) का त्याग कर दिया। इस प्रकार सन्मार्ग को स्वीकार करने से उसका परिग्रह छूट गया और प्राणरक्षा भी हो गई ॥५४॥

क्रोधवशे हणे जीव ने,
क्रोध छोड़ायो हो जीवरक्षा रे ाम।
इम मा मायादी पाप ने,
छोड़ाया हो जीवरक्षा रे ाम॥ ०॥ ५५॥

याँ सगलाँ में जीवरक्षा हुई,
स्व पर ना हो वली छूटा पाप।
इण भाँति जीव बचाविया
ोह-अनुकम्पा हो कहे अज्ञानी फ॥ भ०॥ ५६॥

भावार्थः—कोई क्रोध के वश होकर जीव हिंसा कर रहा हो उसको क्रोध का त्याग करा देने से उसका क्रोध रूपी पाप छूट जाता है और क्रोधवश उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार मान, माया आदि अठारह ही पापों के लिए समझ लेना चाहिए। इस प्रकार इन अठारहो पापो का त्याग कराने से स्व-पर दोनो का कल्याण होता है अर्थात् पाप का त्याग करने वाला पुरुष तो पाप सेवन से बच जाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार पाप छुड़ा कर प्राणरक्षा करने को वे भीषण मतानुयायी मोह-अनुकम्पा कह कर इसमे पाप बतलाते है। यह उनकी अज्ञानता है क्योंकि जो दयालु पुरुष इस प्रकार हिंसादि पापो का त्याग करा कर मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करता है उसका किसी जीव पर मोह (राग) नहीं है। वह तो दोनो जीवो का कल्याण चाहता है इसी से वह हिंसक को हिंसा के पाप से बचाता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के आर्त्तरौद्र ध्यान को मिटा कर उसकी प्राणरक्षा करता है। वह दयालु पुरुष जिस प्रकार हिंसक के हिंसा के पाप को टलाता (मिटाता) है उसी प्रकार उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव के आर्त्तरौद्र ध्यान सम्बन्धी पाप को टलाता (मिटाता) है। इस प्रकार उस दयालु पुरुष के हृदय से उन दोनो जीवो के हित की भावना है और वह दोनो का हित करता है। उसका किसी एक जीव से मोह (राग) नही है। अतः इसे मोह-अनुकम्पा कहना अज्ञानियों का कार्य है ॥५५-५६॥

बिन हिंसा जीव बचावियाँ,
तिण में श्रद्धो हो तुम पाप एकान्त।
सत्यादिक थी छोडावियाँ,
सगले ठामे हो थारे पाप रो पन्थ ॥ ० ॥ ५७ ॥

हिंसा तजी झूठ छोड़ने,
चोरी तज ने हो परजीव बचाय।
मरता राख्या मैथुन तजी,
ते अनुकम्पा हो थारे पाप रे मांय ॥ भ० ॥ ५८ ॥

भावार्थः—जिस कार्य से किसी जीव की हिंसा न हो ऐसा कार्य करके जीव-रक्षा करने में भी वे एकान्त (सर्वथा) पाप मानते हैं। इसी प्रकार सत्य वचन की आराधना से अर्थात् श्री तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञानुसार 'मा हण मा हण' अर्थात् 'मा-मत, हण-मार' ऐसा उपदेश देकर किसी जीव की रक्षा करने मे में भी वे पाप ही मानते हैं।

इस तरह हिंसा छुड़ा कर, झूठ छुड़ा कर, चोरी छुड़ा कर और व्यभिचार छुड़ा कर तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह ही पाप छुड़ा कर जीव-रक्षा करने मे वे एकान्त पाप मानते हैं।

जिस पुरुष को पीलिया रोग हो जाता है उसे समस्त पदार्थ पीले ही पीले दिखाई देते हैं उसी प्रकार इन भीषण मता-नुयायियो को अनुकम्पा के स कार्यों मे पाप ही पाप दि ाई देता है। सर्वज्ञ भगवान् ही जानते हैं कि उनके किस भव के ऐसे कौन से भीषण पाप उदय मे आये हैं जिससे जीव-रक्षा के समस्त कार्यों मे अर्थात् अनुकम्पा मात्र मे उन्हें पाप ही पाप दिखाई देता है।

भगवान् उन्हें सद्बुद्धि दे ताकि वे जीवरक्षा रूप परम-धर्म को धर्म मानने लगे ॥५७-५८॥

झूठ चोरी व्यि चार रो *,
  ाम ले हो तुमे घालो भर्म ।

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

जीव मारे झूठ बोलने, चोरी, करने हो परजीव बचाय।
बलि करे अकारज एहवो, मरता राखे हो मैथुन सेवाय॥
(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा २१)

झूठा हेतु लगाय ने,
छोड़ दीनी थे तुमे लाज रु शर्म ॥ भ० ॥ ५९ ॥

भावार्थः—मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने में झूठ, चोरी और व्यभिचार सेवन आदि का नाम लेकर ये लोग भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं। लाज और शर्म को तिलाञ्जलि देकर उन्होंने जीवरक्षा में पाप बताने के लिए ऐसे गन्दे कुहेतु और कुदृष्टान्त दिये हैं जिन्हें सुनने मात्र से लज्जा और घृणा उत्पन्न होती है किन्तु उन लोगों को ऐसे गन्दे कुहेतु और कुदृष्टान्तों का कथन करते हुए और अपने धार्मिक ग्रन्थों में छपवाते हुए उन्हें किञ्चिन्मात्र लज्जा नहीं आई ॥५९॥

जीवदया-द्वेषी कहे,
मरता राखे हो मैथुन सेवाय।
तिण रो उत्तर हिवे साँभलो,
मिट जावे हो थांरी बकवाय ॥ भ० ॥ ६० ॥

भावार्थः—जीवरक्षा के द्वेषी उन लोगों ने एक ऐसा असभ्यता एवं अश्लीलता पूर्ण दृष्टान्त दिया है कि:—"किसी स्त्री ने मारे जाते हुए प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिए हिंसक पुरुष के साथ व्यभिचार सेवन कराकर उस प्राणी को छुड़वा दिया। इस प्रकार जीव रक्षा में धर्म कैसे हो सकता है?"

कैसी असभ्यतापूर्ण कुयुक्ति लगा कर यह दृष्टान्त दिया गया है। इस कुदृष्टान्त के आगे तो लज्जा को भी लज्जित हो जाना पड़ता है। यह कुदृष्टान्त किसी दूसरे का भी नहीं है किन्तु तेरहपन्थ सम्प्रदाय के मूल संस्थापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी

का स्वयं का कहा हुआ है। इस निर्लज्जतापूर्ण दृष्टान्त 1 खण्डन उन्हीं के इस दृष्टान्त द्वारा किया जाता है ताकि उनके इस व्यर्थ बकवाद का निराकरण हो जाय ॥ ६० ॥

एक विधवा थारा पन्थ री,
निज पूजजी रा हो दर्शन री चाय।
वीं रा पूज्य रह्या परगाम में,
खरची बिन हो दर्शन हीं पाय ॥ ० ॥ ६१ ॥

व्यर्ष चार थी पैसो जोडने,
दर्शन काजे हो आई पूजजी रे पास।
भावना भाई (माल) बेराबियो,
कारज निपज्यो हो व्यभिचार थी ास ॥ भ० ॥६२॥

(बीजी) विधवा गरीब उद्यमवती,
घट्टी पीसे हो पैसा जोड़ण काज।
दर्शन कर (आहार) बेराविया,
कारज निपज्यो हो घट्टी रे साज ॥ ० ॥ ६३ ॥

पहली कुकर्म कीधो आ रो,
दूजी रे हो आरम्भ आश्रव साय।
दर्शन कीधा बेहू जणी,
दान दीधो हो थांने अति हर्षाय ॥ ० ॥ ६४ ॥

यां में उत्तम अधम कौण है,
अथवा सरीखी हो थारी श्रद्धा रे मांय।
न्याय विचारी ने कहो,
विवेक हो हिरदा रे मांय ॥ भ० ॥ ६५ ॥

भावार्थः—मान लीजिये तेरहपन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक विधवा स्त्री थी। उसके हृदय मे अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा हुई। उस समय उसके पूज्यजी का चातुर्मास किसी दूसरे शहर मे था। वहाँ जाने के लिए रेल टिकिट आदि के लिए रुपयो की जरूरत थी किन्तु उसके पास मे पैसा न था। तब उसने व्यभिचार सेवन करा कर पैसा इकट्ठा कर लिया। फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने मिष्टान्न आदि बना कर अपने पूज्यजी की भावना भाई और उन्हे खूब मिष्टान्नादि माल वहराया। इस प्रकार उस विधवा के व्यभिचार के पैसे से दर्शन और दान दोनो कार्य उत्पन्न हुए।

तेरह पन्थ सम्प्रदाय को मानने वाली एक दूसरी और विधवा स्त्री थी। उसके हृदय मे भी अपने पूज्यजी के दर्शन करने की इच्छा उत्पन्न हुई किन्तु पास मे पैसा न था। तब घट्टी (हाथ चक्की) पीसने का कार्य करके उसने पैसा इकट्ठा किया और फिर दर्शन करने के लिए पूज्यजी के पास गई। वहाँ उसने पूज्यजी की भावना भाई और पूज्यजी को आहार वहराया (दिया)। इस प्रकार इस दूसरी विधवा के साधु दर्शन और दान दोनो कार्य घट्टी पीसने के कारण उत्पन्न हुए।

अब इनके पूज्यजी से पूछना चाहिए कि इन दोनो विधवाओं में कौनसी धार्मिक और कौन पापिनी है? या दोनो समान

धार्मिक हैं ? यथार्थ न्याय विचार कर तथा हृदय में विवेक रख इस प्रश्न का उत्तर दीजिये ॥६१–६५॥

(कहे) पेली ारी महा पापिणी,
दा दर्शन हो तिण रा ले में नाय।
पन्थ लजायो हम तणो,
कुकर्मी हो धक ा जगत् में ाय ॥ भ० ॥ ६६ ॥
दूजी विवेक गुण री,
दर्शन दा रो हो तिण रे धर्म रो धाम।
घ ी ारम्भ आश्रव ही,
तिण बिना हो ति रो किम चले म॥ ०॥६७॥

भावार्थः—इस प्रश्न के उत्तर मे उनके पूज्यजी यह तो कह नही सकते कि 'ये दोनो ि यॉ एक समान ही धार्मिक है' किन्तु लाचार होकर उन्हें यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने घट्टी पीस कर दर्शन और दान का लाभ लिया है वह स्त्री धार्मिक है। विवेक वाली है। दूसरी विधवा ी जिसने व्यभिचार सेवन करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह हमारे पन्थ को लज्जित करने वाली दुराचारिणी है। साधु के दर्शन से और साधु को दान देने से उत्पन्न होने वाला धर्म उसे नही हो सकता। ऐसी दुष्टा स्त्रियों का साधु दर्शन का नाम लेना दम्भ है।

यद्यपि पहली स्त्री ने घट्टी पीसने का आरम्भ रूप आश्रव का सेवन किया है किन्तु वह अल्प पाप है। उसके बिना उसका कार्य चल नही सकता किन्तु दूसरी स्त्री महा-पापिनी है। ऐसा कुकर्म करने वाली स्त्री संसार मे धक्के खाती है ॥६६–६७॥

(उत्तर) तो समझो इण दृष्टान्त थी,
मैथुन सेवे हो जीवरक्षा रे काज।
ते परथम नारी सारखी,
नहिं विवेक हो नहीं तिण रे लाज ॥ भ० ॥ ६८ ॥
कोई जीव बचावे गुण भरी,
घट्टी आदिक हो महनत रे साय।
अनुकम्पा तस निरमली,
आरम्भ तो हो अणसरते कराय ॥ भ० ॥ ६९ ॥
व्यभिचार घट्टी सरीखो नहीं,
इम समझो हो सब कर्म कुकर्म।
समझे विवेकी विवेक सें,
अणसमझू रे ही उपजे अति भर्म ॥ भ० ॥ ७० ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार जीवरक्षा के विषय मे भी यही बात समझनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार आपके (तेरह पन्थी पूज्यजी के) दर्शनार्थ आई हुई दोनो स्त्रियो मे से पहली स्त्री अर्थात् व्यभिचार सेवन करा कर दर्शन और दान का लाभ लेने वाली को आप पापिनी कहते है और दूसरी को अर्थात् घट्टी पीस कर साधु दर्शन का लाभ लेने वाली को धार्मिक और विवेक वाली कहते हैं उसी तरह यह भी समझना चाहिए कि जिसने जीवरक्षा के बहाने से व्यभिचार का सेवन किया है वह साधु दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्री के समान ही दुरात्मा है और जिसने घट्टी पीसने रूप महनत का कार्य करके जीवरक्षा की है वह धार्मिक है,

उसने बुरे कार्य से निवृत्त होकर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य का सेवन किया है। अतः वह धार्मिक है। यद्यपि घट्टी पीसने का आरम्भ रूप आश्रव उसे लगता है किन्तु वह अल्प है और वह आरम्भ अगासरते (लाचारीवश) किया जाता है उसके विना उसका कार्य चल नहीं सकता।

वे लोग साधु दर्शनार्थ आई हुई उक्त दोनों ि यो मे तो भट भेद बतला देते हैं और जीवरक्षा के विषय में उक्त दोनों ि यों को एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका क्या कारण है? यह उनका दुराग्रह है।

जब कि घट्टी पीस कर साधु दर्शनार्थ आने वाली ी धार्मिक हो सकती है तो उसी प्रकार घट्टी पीस कर जीवरक्षा करने वाली ी धार्मिक क्यो नहीं हो सकती? अतः इस प्रकार महनत का कार्य कर प्राप्त किये हुए द्रव्य से जीवरक्षा करने वाली ी को पापिनी कहना पापियों का कार्य है ॥६८-७०॥

शील ए दर्शण कहो ण करे,
तो जीव बचावे हो ण मैथुन सेव?
हेतु गुरु रा टवा,
उप य जोड्यो हो मेटण टेव ॥ भ० ॥ ७१ ॥

भावार्थः—यदि कोई यह शंका करे कि 'ऐसी कौन ी है जो अपने शील को खण्डित कर साधु दर्शन करने जाती है?" तो उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि "ऐसी कौन ी है जो अपना शील खण्डित कर जीवरक्षा करती है?" अर्थात् कोई नही है क्योंकि जिस प्रकार साधु दर्शन का महत्त्व समझने वाली

विवेकवती स्त्री अपने शील को खण्डित नहीं करती उसी प्रकार जीवरक्षा रूप धर्म का महत्त्व समझने वाली विवेकवती स्त्री भी अपना शील खण्डित नही करती किन्तु तेरह पन्थ मत के प्रवर्तक श्री भीषणजी ने जीवरक्षा मे पाप बतलाने की दुर्भावना से ऐसे भीषण एवं असभ्यतापूर्ण अश्लील दृष्टान्त दिये है उन कुहेतु और कुदृष्टान्तो का खण्डन करने के लिए उन्हीं के दिये हुए दृष्टान्त परिवर्तन कर उन्ही के लिए दिये गये है ताकि ऐसे अश्लील कुदृष्टान्त देकर जीवरक्षा मे पाप बताने की उनकी कुटेव मिट जाय ॥७१॥

जीव रक्षा जिन धर्म है,
सूत्तर में हो श्री जिनजी रा वयण ।
तिण में पाप बतावियो,
शुद्ध बुद्ध हो फूटा अन्तर नयन ॥ भ० ॥ ७२॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने शास्त्रो मे जगह जगह पर जीवरक्षा का महत्त्व बतलाया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार मे तो यहाँ तक फरमाया है:—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया कहियं"

अर्थात्:—समस्त जगत् के जीवो की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाया है।

शास्त्रो मे इस प्रकार का कथन करके श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने यह स्पष्ट जाहिर किया है कि 'जीव-रक्षा जैनधर्म का मुख्य अङ्ग है वल्कि जैनागमो का निर्माण जीवरक्षा के लिए ही हुआ है।

ऐसे जीवरक्षा रूप परमधर्म के कार्य मे पाप वही पुरुष बता सकता है जिसके हृदय मे जरा भी विवेक न हो, जिसको धर्म की कुछ भी सुधबुध (भान· ान) न हो और जिसके ज्ञान रूपी अन्तर नयन फूट चुके हो ॥७२॥

ोई क्रूर कसाई ाय ने,
रता राख्या हो दीन जी अने ।
तिण में पाप बतावतां,
त्यां रा बिगड्या हो श्रद्धा ने विवेक ॥ ० ॥७३॥

भावार्थः—किसी दयालु पुरुष ने किसी क्रूर कसाई को समझा कर उसके हाथ से मारे जाने वाले अनेक दीन प्राणियों की रक्षा कर दी। इस कार्य मे वही पुरुष पाप बता सकता है जिसकी श्रद्धा भ्रष्ट हो चुकी हो और विवेक जिससे कोसों दूर भाग गया हो क्योंकि शुद्ध श्रद्धावान् और विवेकी पुरुष तो जीवरक्षा रूप परमधर्म के कार्य मे पाप कदापि नहीं बता सकता ॥७३॥

पहे । ने उपदेश दे,
पाप छोड़ायां हो धर्म रो फल जोय ।
तो पाप ि ख्या मरता जीव रा,
धर्म ते में हो हो किम नहीं होय ॥भ०॥ ७४ ॥

भावार्थः—जब वे लोग यह बात मानते हैं कि हिंसा करने वाले कसाई को उपदेश देकर उसका हिंसा रूपी पाप छुड़ा देने मे धर्म है तो उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों के आर्त्त-रौद्र ध्यान सम्बन्धी पाप छुड़ा देने में धर्म क्यो नही है ? जिस

प्रकार कसाई का पाप छुड़ाने से धर्म होता है उसी प्रकार उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवो की रक्षा करने से उनका आर्त्तरौद्र ध्यान सम्बन्धी पाप छुडाने मे भी धर्म होता है, यह बात समान रूप से उन्हे माननी चाहिए ॥७४॥

कहे पाप छोडायां धर्म है,
  मरता जीवाँ रा हो आरत (रुद्र) मेटण पाप।
खिण थापे खिण में फिरे,
  खोटी श्रद्धा हो या दीखे साफ ॥ भ० ॥ ७५ ॥

देवल ध्वज तेहनी परे,
  फिर जावे हो न रहे एक ठास।
दयाधर्म उत्थाप ने,
  झगड़ो झाल्यो हो नहीं चर्चा रो काम ॥भ०॥७६॥

भावार्थः—उन लोगो ने अपना यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—"किसी जीव का पाप छुडाना धर्म है।" इसके लिए उन लोगो ने दृष्टान्त दिया है कि—"कोई कसाई हिसा कर रहा हो, उसका हिसा रूपी पाप छुड़ाना धर्म है।"

जब उनसे यह पूछा जाता है कि उस कसाई के हाथ से मारे जाने वाले जीव आर्त्तरौद्र ध्यान कर पाप कर्म बाँधते है उनकी रक्षा करके उनका वह पाप छुड़ाना धर्म है या नहीं? तब वे लोग अपने सिद्धान्त से बदल जाते है और कहते है कि कसाई के हाथ से मारे जाने वाले उन जीवो की रक्षा कर उनका पाप छुड़ाना तो धर्म नहीं, पाप है।

एक क्षण पहले उन लोगों ने जो सिद्धान्त स्थापित किया था कि पाप छुड़ाना धर्म है' दूसरे क्षण में वे अपने इस सिद्धान्त से बदल जाते हैं और कहते हैं कि "पाप छुड़ाना पाप है।" जिस प्रकार मन्दिर पर लगाई हुई ध्वजा एक जगह स्थिर नही रहती किन्तु वायु के झोंके से कभी इधर और कभी उधर चलती रहती है उसी प्रकार ये लोग भी अपने सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रहते। कभी कुछ कहते है और कभी कुछ। इस प्रकार अपने सिद्धान्त को स्थापित करते हुए और उसे उत्थापते हुए उनको कुछ भी देर नहीं लगती। ऐसे लोग चर्चा करके सत्य तत्त्व को समझने की कभी इच्छा नही करते। वे तो अपने दुराग्रह को कभी नहीं छोड़ते। उन्हे जीवरक्षा रूप दयाधर्म से द्वेष है इसलिए जीवरक्षा का प्रश्न आते ही वे अपने सिद्धान्त को भाड़ मे फेंक कर 'पाप-पाप' की रट लगाने लगते हैं। उस समय उन्हे अपने सिद्धान्त का कुछ भी भान नहीं रहता। सिद्धान्त जाय चाहे भाड़ मे उन्हें तो जीवरक्षा मे पाप बताना है ॥७५-७६॥

*** सिंह कसाई रो नाम ले,**
राख्या रो हो झूठ रचे परपंच
विन मार्यां जीव बचाविया,
पाप श्रद्धे हो मूढ़ कर कर च ॥ भ० ॥ ७७ ॥

जैसा कि वे कहते हैं:—

कोई नाहर कसाई ने मारने,
मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणे दोयां ने सारखा,
त्यांरी बिगड़ी हो श्रद्धा बात विवेक ॥ २७ ॥
(अनुकम्पा ढाल ५, गाथा २७)

भावार्थः—जीवरक्षा में पाप बताने के लिए उन लोगो ने एक दृष्टान्त दिया है और जीवरक्षा में धर्म मानने वालों से उन्होंने प्रश्न किया है। जैसे कि:—

"एक सिंह जंगल में बहुत जीवों को मारता था। उन मारे जाने वाले जीवो की रक्षा करने के लिए किसी ने उस सिंह को मार दिया तो इस कार्य में धर्म कैसे हुआ? अथवा एक कसाई बकरे आदि बहुत से जीवो को मारता था। उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवो की रक्षा के लिए किसी ने उस कसाई को मार दिया तो बताओ इस कार्य से धर्म कैसे हुआ?"

इस प्रकार सिंह और कसाई को मारने का दृष्टान्त देकर उन लोगो ने भोले जीवो को भ्रम में डालने की चेष्टा की है। जिस कार्य में किसी भी जीव को न मारा जाय अर्थात् किसी भी जीव को विना मारे ही जीवरक्षा की जाय उसमे भी वे लोग पाप ही मानते हैं तब फिर जीव मार कर जीवरक्षा करने का दृष्टान्त देना अयुक्त है। यह तो सिर्फ भोले लोगो को भ्रम में डालने के लिए उन लोगो ने एक प्रपंच रचा है। उन लोगो से पूछना चाहिए कि—किसी दयालु पुरुष ने उस कसाई को समझा कर उसे हिंसा का त्याग करा दिया और उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत जीवों की रक्षा कर दी। अब बताओ इस प्रकार जीवरक्षा करने में धर्म हुआ या पाप?

उन लोगो के हृदय में तो पाप ही बसा हुआ है। इस-लिए वे तो इसमें भी पाप ही बताते हैं। जब कि इस कार्य में किसी को न मारा गया, केवल उपदेश देकर जीवरक्षा की गई उसमें वे लोग पाप ही मानते हैं तब फिर कसाई को मार कर

जीवरक्षा करने का दृष्टान्त देना उनका युक्त है। उन गोगो को तो 'जीवरक्षा' से ही द्वेष है। इसलिए वे तो जीवरक्षा मात्र में पाप बताते है ॥७७॥

जीव बचाया रा देष थी,
दया उठे हो एवी बोले वाय।
हणता जीव ने रोकतां,
ति माहे हो न्द प बताय ॥ ० ॥ ७८ ॥

भावार्थः—उन लोगो को तो जीवरक्षा मात्र से द्वेष है। इसलिए लोगो के हृदय से दया को उठाने के लिए वे ऐसे टे दृष्टान्त देते हैं। किसी कसाई को उपदेश देकर उसके हाथ से मारे जाने वाले जीव की रक्षा करने में भी वे पाप बताते है फिर कसाई को मार कर जीव-रक्षा करने का दृष्टान्त देना यु है ॥७८॥

हला संवरद्वार में,
अमाघा गो दया रो ।
वीर प्रभु उपदेशियो,
श्रेणिक राजादि हो रि यो धा ॥ भ० ॥ ७९ ॥

दया व दिल गो,
अ घाए हो गोषणा दी य।
जीव कोई हणो मती,
गे हो मूल प रे ॥ ० ॥ ८० ॥

सप्तम दशम अंग रो,
एक सरीखो हो पाठ सूतर मांय ।
जे कारज वीर वखाणियो,
श्रेणिक नृप हो दियो सब ने सुणाय ॥ भ० ॥ ८१ ॥

(निज) श्रद्धा उठती जाण ने,
सूतर रा हो दीना पाठ उठाय ।
(कहे) पाप हुवो श्रेणिक भणी,
एवी बोले हो अणहूंती वाय ॥ भ० ॥ ८२ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अहिसा (दया) के साठ नाम फरमाए है। उनमे 'अमाघाओ' दया का नाम फरमाया है और उपदेश दिया है कि 'अमाघाओं' अर्थात् किसी भी जीव की घात मत करो, किसी भी जीव को मत मारो'।

भगवान के इस उपदेश को सुन कर श्रेणिक राजा के हृदय मे विशेष दया उत्पन्न हुई। उसने अपने राज्य मे 'अमाघाओ' का पड़हा फिरा दिया अर्थात् 'कोई किसी भी जीव को मत मारो' ऐसी उद्घोषणा करवा दी।

यह बात उपासकदशाङ्ग सूत्र के आठवे अध्ययन के मूल पाठ मे कही गई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथमसंवर द्वार मे वीर भगवान् ने 'असाघाओ' यह शब्द फरमाया है और उपासक दशाङ्ग सूत्र के आठवें अध्ययन मे श्रेणिक राजा के पड़ह फिराने का जो वर्णन आया है वहाँ भी 'अमाघाओ' शब्द है

अर्थात् प्रश्नव्याकरण सूत्र और उपासकदशाङ्ग सूत्र दोनों मे 'अमाघाओ' यह एक समान पाठ है जिससे यह स्पष्ट है कि वीर भगवान् ने जो उपदेश दिया था उसे श्रेणिक राजा ने कार्य रूप मे परिणत कर दिया। उसने वीर भगवान् के पास 'अमाघाओ' का उपदेश सुना था उस उपदेश को उसने अपने राज्य के सब लोगों को सुना दिया और पड़ह (ढिंढोरा) फिरा दिया कि 'कोई किसी जीव को मत मारो'।

शास्त्रो मे जीवरक्षा का यह स्पष्ट पाठ है तब उन लोगों ने सोचा कि अब तो हमारी 'ढोल की पोल' प्रकट हो जायगी। तब वे शास्त्रो के इस पाठ की अवहेलना कर कहने लगे कि—"श्रेणिक राजा ने जो 'अमाघाओ-मत मारो' का पड़ह फिराया था इससे उसे पाप लगा।"

जीवरक्षा के द्वेष मे पड़ कर उन लोगो ने इस प्रकार शास्त्रो के कई पाठो की अवहेलना की है और जीवरक्षा में पाप बताने के लिए उन पाठो को तोड़ मरोड़ कर उनका विपरीत अर्थ किया है ॥७६–८२॥

श्रेणि समदृष्टि हूंतो,
हिं । रोकी हो सूतर रे मांय ।
। ह । मा ह । भु कहे,
मत मारो हो श्रेणि दियो सुणाय ॥ भ० ॥ ८३ ॥

हिं । छुड़ाई रा जी,
न्दमति हो सु ने दु पाय ।

जीव दया रा द्वेसिया,
ऊंधी मति थी हो दुरगत में जाय ॥भ०॥ ८४ ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह उपदेश है कि 'मा हणो मा हणो' अर्थात् "जीवों को मत मारो, मत मारो।" भगवान् के इस उपदेश को सुन कर श्रेणिक राजा ने अपने राज्य मे जीवहिंसा न करने का पड़ह फिरा दिया था कि 'कोई किसी जीव को मत मारो।'

श्रेणिक राजा सम्यग्दृष्टि था। उसने जीवरक्षा का यह महान् कार्य किया था किन्तु जीवरक्षा के द्वेषी लोगों को श्रेणिक का यह कार्य अच्छा न लगा। इसलिए इस परमधर्म के कार्य मे पाप बताने की विपरीत बुद्धि उनमे उत्पन्न हुई। यह विपरीत बुद्धि ही सब अनर्थों का मूल है। इसी से जीव दुर्गति मे जाते है ॥८३-८४॥

मत मारो * आज्ञा राय री,
या भाखी हो सूतर में बात।
पाप कहे श्रेणिक भणी,
ते तो बोले हो चौड़े झूठ मिथ्यात ॥भ०॥ ८५ ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

श्रेणिक राय पडहो फिरावियो,
आ तो जाणो हो मोटा राजां री रीत।
भगवन्त न सराह्यो तेहने,
तो किम आवे हो तिण री प्रतीत ॥ ३७ ॥
(अनुकम्पा ढाल ७ गाथा ३७)

भावार्थः—उपासकदशा सूत्र में यह बात मूल पाठ में कही गई है कि—"श्रेणिक राजा ने अपने राज्य मे 'अमाघाश्रो' र्थात् 'मत मारो' की उद्घोषणा करवाई थी।" जो लोग जीव-रक्षा के एस कार्य से श्रेणिक को पाप होना कहते हैं वे झूठ बोलने वा एवं मिथ्यात्वी है ॥८५॥

'अमारी' धर्म जिन ापियो,
नृप पाल्यो हो पलायो ग मांय।
तेमां पाप कहे तो पिया,
भो ां ने हो नाख्या फन्द रे माय ॥ भ० ॥ ८६ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान ने 'अमाघाश्रो' यानी ारी—मत मारो' यह धर्म फरमाया है। राजा श्रेणिक ने इस धर्म का पालन स्वयं किया और अपने राज्य मे पालन करवाया। इसमे पाप बताने वाले पापी है। तीर्थङ्कर भगवान जिस कार्य को धर्म कहे उसमे पाप कहना बुद्धि की विपरीतता है ॥८६॥

(कहे) वीरजी य सिखावियो,
पडहो फेरजे ो थारा राज रे ांय।
ो श्रेणिक सीख्यो ि ण ने,
ाले हो गुरु मन मांय ॥ भ० ॥ ८ ॥

ज्ञा दीनी वीर जी,
उद्घोषणा हो करो रा रे मांय।
ो ि रे किम हुवे
पाप श्रद्धां हो म्हें तो न रे ांय ॥ ० ॥ ८८ ॥

मोटा मोटा हूँता राजवी,
समदृष्टि हो जिन धर्म रा जाण।
त्यां हिंसा छोड़ावण कारणो,
नहीं घोषणा हो कीधी सूत्र प्रमाण ॥ भ० ॥ ८९ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते है कि वीर भगवान् ने राजा श्रेणिक को यह आज्ञा नहीं दी थी कि—'तू अपने राज्य में 'अमाघाओ—मत मारो' का पड़ह फिरवाना।'' इसलिए हम (तेरह पन्थी) लोग श्रेणिक राजा के इस कार्य मे पाप मानते हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर के समय मे जिनधर्म के ज्ञाता समदृष्टि अनेक बड़े बड़े राजा थे उन लोगों ने अपने राज्य मे इस प्रकार 'अमाघाओ—मत मारो' की उद्घोषणा नहीं करवाई थी। सिर्फ श्रेणिक राजा ने यह उद्घोषणा करवाई थी। यदि इस प्रकार की उद्घोषणा मे धर्म होता तो दूसरे राजा भी ऐसी उद्घोषणा करवाते। इसलिए हम (तेरहपंथी) लोग श्रेणिक राजा की इस उद्घोषणा मे पाप मानते है ॥८७-८९॥

(उत्तर) एवी तर्क करे केई मन्दमती,
नहीं सूझे हो फूटा अन्तर नयन।
जीव बचावण द्वेष थी,
अणहूंता हो मुख काढे वयण ॥ भ० ॥ ९० ॥
न्याय सुणो हिवे भावसूं,
श्रेणिक री हो सूतर में बात।
निज नौकर बुलाय ने,
आज्ञा दीनी हो इण विध साक्षात ॥ भ० ॥ ९१ ॥

स्था ध ी ने चेताय दो,
जागा दीजो हो वीर प्रभु ाय।
यो हुक्म राजा श्रेणि तणो
आज्ञाकारी हो सुणायो जाय ॥ भ० ॥ ६२ ॥

श्रेणिक ने प्रभु ा कह्यो,
घोषणा करजे हो म्हारा स्थान रे ाज।
तो पाप हुवो तुम थन थी,
सेजा रो हो वीर ने दीनो ॥ भ० ॥ ६३ ॥

बलि ोटा होता राजवी,
स्थान घोष ा हो नहीं चा ी बा ।
तो श्रेणि घोपणा ि म री,
न्याय तोलो हो हिरदे साक्षात् ॥ भ० ॥ ६४ ॥

भावार्थ:—श्रेणिक राजा की 'अमाघाओ–मत मारो' की उद्घोषणा मे पाप बतलाने के लिए उन लोगों ने दो कुयुक्तियाँ दी है। (१) पहली यह कि ऐसी उद्घोष ा के लिए वीर भगवान् ने उसे आज्ञा नहीं दी थी। (२) दूसरी यह कि दूसरे राजाओ ने ऐसी उद्घोषणा नही करवाई थी।

अब उनकी उपरोक्त दोनो कुयुक्तियों का शा ानुसार एडन किया जाता है:—

शास्त्र मे श्रेणिक राजा का यह वर्णन आता है कि— राजा श्रेणिक ने अपने नौकर पुरुष को बुला कर यह आज्ञा दी

कि—मेरे राज्य में यह उद्घोषणा करो यानी स्थान मालिकों को यह सूचित कर दो कि "जब भगवान महावीर स्वामी पधारें तब उन्हे ठहरने के लिए स्थान देवे।" राजा श्रेणिक की आज्ञानुसार नौकर पुरुष ने यह उद्घोषणा कर दी।

अब उन लोगो से (तेरहपन्थियों से) पूछना चाहिए कि—वीर भगवान् ने तो राजा श्रेणिक को यह आज्ञा नहीं दी थी कि "मुझे स्थान देने के लिए तुम उद्घोषणा करवाना।" तथा दूसरे बड़े बड़े राजाओ ने भी इस प्रकार की उद्घोषणा नहीं करवाई थी।" अतः श्रेणिक राजा के 'अमाघाओ—मत मारो' का पड़ह फिराने मे पाप बतलाने के लिए तुमने जो ये दो युक्तियाँ दी हैं उनके अनुसार वीर भगवान् को स्थान देने की इस उद्घोषणा में भी तुम्हे पाप मानना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि स्थान देने की उद्घोषणा करने से राजा श्रेणिक को पाप लगा और इस उद्घोषणा को सुन कर जिन लोगो ने वीर भगवान को ठहरने के लिए स्थान दिया उनको भी पाप लगा। तुम्हारे लिए दोनो जगह युक्तियाँ समान है क्योंकि स्थान देने के लिए उद्घोषणा करने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे बड़े बड़े राजाओ ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी ॥६०–६४॥

श्रीकृष्ण करी उद्घोषणा,
दीक्षा लेवो हो श्री नेम रे पास।
साय करूं पिछला तणी,
ज्ञाता में हो यों पाठ है खास ॥ भ० ॥ ६५ ॥

ञा दीवी श्री ने जी,
उद्घोषणा हो रो गरी मंझार।
थारे लेखे हुओ घणो,
दीक्षा द ाली हो हीं धर्म लि र ॥ ०॥ ६६ ॥

न्य नृप री चा ी हीं,
उद्घोषण हो दीक्षा रे सहाय।
इण ारण श्री ष्ण ने,
पाप कहणो हो री श्रद्धा रे ांय ॥ भ० ॥ ॥ ६७ ॥

भावार्थः— तासूत्र के पाँचवे अध्ययन मे था वच्चापुत्र के धिकार मे यह बात आई है कि श्रीकृष्ण महाराज ने द्वारिका नगरी में यह उद्घोषणा करवाई थी कि—'जिसकी इच्छा हो वह भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा ले। उसके पीछे रहने वाले कुटुम्बियो की मैं सब तरह सार संभाल एवं सहायता करूँगा।" श्री ष्ण महाराज की इस उद्घोषणा को सुन कर नेक व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की थी।

अब उन लोगों से (तेरहपन्थियो से) पूछना चाहिए कि ऐसी उद्घोषणा करने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने ऐसी आज्ञा नही दी थी और न दूसरे राजाओ ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः राजा श्रेणिक के 'अमाघाओ-मत मारो' का पड़ह फिराने मे पाप बतलाने के लिए तुमने जो ये दो युक्तियाँ दी है उनके अनुसार श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा विषयक उद्घोषणा मे भी तुम्हे पाप मानना पड़ेगा और

यह मानना पड़ेगा कि इस दीक्षा दलाली से श्रीकृष्ण महाराज को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान है क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी उसी प्रकार दीक्षा की उद्घोषणा करवाने के लिए श्रीकृष्ण महाराज को भगवान् नेमिनाथ ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजाओं ने ही ऐसी उद्घोषणा करवाई थी। अतः तुम लोगों को श्रीकृष्ण महाराज की इस दीक्षा दलाली में भी पाप मानना पड़ेगा ॥९५-९७॥

कोणिक भगतो वीर रो,
नित्य प्रते हो, कुशल बात मंगाय।
प्रेम धरी, सुणे भाव सूं,
इण काजे हो देवे नर ने साय ॥ भ० ॥ ९८ ॥

वीरजी नाम सिखावियो,
भ वारता हो नित लीजे मंगाय।
प्रभु नाम गोत्र, सुणवा तणा,
पाप लागो हो थारी श्रद्धा रे मांय ॥ भ० ॥ ९९ ॥

भावार्थः—राजा कोणिक वीर भगवान् का परम भक्त था। इसलिए उसने ऐसे आदमी नियुक्त कर रखे थे जो रोजाना भगवान् महावीर स्वामी के कुशल क्षेम के समाचार लाकर उसको सुना देते थे। राजा कोणिक भगवान् महावीर स्वामी के

नाम गोत्र एवं उनके कुशल क्षेम के समाचारों को बड़ी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम पूर्वक सुनता था।

अब उन लोगों से पूछना चाहिए कि इस प्रकार शल-क्षेम के समाचार मंगाने के लिए वीर भगवान् ने उसको आ I नहीं दी थी और दूसरे राजा लोग इस प्रकार वीर भगवान् के शल क्षेम के समाचार मंगाते थे ऐसा कोई उल्ले नहीं मिलता है। अतः राजा श्रेणिक की जीवरक्षा विषयक उद्घोषणा मे पाप बतलाने के लिए जो ये दो युक्तियाँ दी है उनके अनुसार तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर के नाम गोत्र एवं शल क्षेम सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था। तुम्हारे लिए दोनों जगह युक्तियाँ समान हैं क्योंकि जिस प्रकार जीवरक्षा की उद्घोपणा करवाने के लिए राजा श्रेणिक को न तो वीर भगवान् ने आज्ञा दी थी और न दूसरे राजाओ ने ही ऐसी उद्-घोषणा करवाई थी उसी प्रकार नित्य प्रति शलवार्ता मंगाने की भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी और न दूसरे राजा लोग ऐसा करते थे। अतः तुम लोगो को यह मानना पड़ेगा कि वीर भग-वान् के नाम गोत्र एवं कुशल वार्ता सुनने से राजा कोणिक को पाप लगा था ॥६८–६६॥

ब तो गुरु इण पर कहे,
स्था घोषणा हो करी श्रेणि राय।
दीक्षा घोषणा थी ८ जी,
भु रता हो कोणिकजी गाय ॥ भ० ॥ १०० ॥
श्रे अरु श्री ष्णाजी,
धर्म दला ी हो ीधी द्ध भाव।

कोणिक भक्ति रस पियो,
धर्म भाव रो हो चित्त में अति चाव ॥ भ० ॥ १०१ ॥

श्रेणिक ने प्रभु नहीं कह्यो,
घोषणा कीजे हो म्हारे स्थान रे काम ।
आव जाव कार्य करण रो,
गृहस्थी ने हो केणो वर्ज्यो श्याम ॥ भ० ॥ १०२ ॥

समदृष्टि निर्मल भाव थी,
स्थान दलाली हो कीधी श्रेणिक राय ।
तिणरे विवेक अति निरमलो,
कारण काज हो समझे मन मांय ॥ भ० ॥ १०३ ॥

उद्घोषणा आज्ञा में नहीं,
दीक्षा दलाली हो निर्मल परिणाम ।
धर्म दलाली नीपजी,
समदृष्टि हो करे एहवा काम ॥ भ० ॥ १०४ ॥

नाम गोत्र सुणे साधु रो,
अतिफल कह्यो हो सूत्तर रे माँय ।
कोणि सुणतो (प्रभु) वारता,
भक्ति रो हो फल मोटो पाय ॥ भ० ॥ १०५ ॥

वीरजी नाय ि ाविंयो,
मुझ वार्ता हो नित लीज्यो मंगाय।
वली न जणाई आमना,
ते तो समझो हो निज द्धि लगाय ॥ भ० ॥१०६॥

बीजा राजा री चाली नहीं,
उद्घोषण हो स्थान दीक्षा रे ाज।
ि निषेध दीसे नहीं,
ीधी होवे हो जाणे जिनराज ॥ ० ॥ १०७॥

(आज पिण) पत्र भेजण साधु कहे नहीं,
क भेजे हो वन्दना विविध प्रकार।
वन्दना रो तिण रे ला ै,
पत्र ेण हो आरम्भ निरधार ॥ ० ॥ १०८ ॥

पत्र ेषण ाधु सीखवे,
श्राव भेजे हो निज ज्ञान विचार।
वन्दन भाव तो निर्मला,
धु रो हो नहीं ह रो ाचार ॥ ० ॥ १०९ ॥

भावार्थः—तब भीषण मतानुयायी साधु उत्तर देते हैं कि—श्रेणिक राजा ने वीर भगवान् को स्थान देने की घोषणा करवाई थी। यद्यपि इसके लिए वीर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी क्योंकि उद्घोषणा करने के लिए आने जाने की क्रिया का जो आरम्भ होता है उसके लिए साधु गृहस्थ को आ ा नहीं देते

हैं किन्तु श्रेणिक राजा समदृष्टि था। उसके परिणाम अति निर्मल थे। वह विवेकवान था। उसने वीर भगवान् को स्थान देने की घोषणा करके स्थान दलाली रूप धर्म का महान् लाभ प्राप्त किया था। आने जाने आदि की क्रिया का आरम्भ होने से उद्घोषणा करवाना आज्ञा मे नहीं है किन्तु स्थान दलाली रूप धर्म तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा मे है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की उद्घोषणा करवाई थी उससे उन्हे दीक्षा दलाली रूप धर्म का महान् लाभ प्राप्त हुआ था। विवेकवान् समदृष्टि पुरुष ही ऐसे धर्म के कार्य करते है।

साधु का नाम गोत्र आदि श्रवण करने से महान् धर्म-लाभ होता है ऐसा शास्त्र मे कहा गया है। अतः कोणिक राजा वीर भगवान् के नाम गोत्र एवं कुशल वार्ता प्रति दिन सुनता था इससे उसे महान् धर्म लाभ होता था। गृहस्थ की आने जाने की क्रिया आज्ञा मे नहीं है किन्तु साधु का नाम गोत्र श्रवण करना आज्ञा मे है। जब सामान्य साधु का नाम गोत्र श्रवण करने से धर्मफल होता है तो वीर भगवान् के नाम गोत्र एवं कुशलवार्ता श्रवण के लाभ का तो कहना क्या ? अतः तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर स्वामी के नाम गोत्र एव कुशलवार्ता श्रवण से कोणिक राजा को महान् धर्म फल हुआ था।

दूसरे राजाओं ने इस प्रकार की उद्घोषणा आदि कार्य करवाये हो ऐसा उल्लेख यद्यपि शास्त्रो मे नही पाया जाता है किन्तु इनका निषेध भी नही है। इसलिए यदि उन्होने ऐसे कार्य किये हो तो सर्वज्ञ भगवान् ही जानते है। हम उनका निषेध नहीं कर सकते किन्तु इस प्रकार के कार्यों से धर्म दलाली रूप महान् धर्मलाभ होता है ऐसा सर्वज्ञ देव तीर्थङ्कर भगवान् ने स्पष्ट फरमाया है।

आजकल वर्तमान समय में भी यह देखा जाता है कि पत्र चिट्ठी आदि भेजने के लिए साधु गृहस्थ को आज्ञा नहीं देते किन्तु श्रावक लोग अपनी भक्ति को विविध प्रकार से प्रदर्शित करते हुए वन्दना लिख कर पत्र भेजते हैं। उन्हें वन्दना का लाभ तो होता ही है। पत्र भेजने मे आरम्भ होता है अत: इसके लिए साधु आ ा नही देते किन्तु वन्दन भाव को तो निर्मल समझते है। जिस प्रकार पत्र भेजने के लिए साधु आज्ञा नहीं देते किन्तु वन्दन भाव को निर्मल समझते हैं और उस श्रावक को वन्दना का लाभ होता है उसी प्रकार स्थान और दीक्षा के लिए उद्-घोषणा करने की साधु आ ा नहीं देते किन्तु स्थानदलाली और दीक्षादलाली को वे धर्मदलाली एवं श्रे समझते हैं और जो स्थान और दीक्षा की दलाली करता है उसे धर्म का महान् लाभ होता है।"

इस प्रकार वे (तेरह पन्थी साधु) श्रेणिक राजा की स्थान विषयक घोषणा और श्रीकृष्ण महाराज की दीक्षा विपयक घोषणा तथा कोणिक राजा की शलवार्ताश्रवण के लिए उत्तर देते हैं ॥१००-१०६॥

इम सूधा ते बोलिया,
व ज्ञानी हो तेने कहे य।
इण हिज विध तुम श्रद्ध लो,
उद्घोषण हो म मारया रो न्याय॥ ०॥ ११०॥

भावार्थ:—जब वे लोग उपरोक्त रूप से सरलतापूर्वक सीधा उत्तर देते हैं तब ज्ञानी पुरुष उन्हें समझाते हैं कि स्थान

और दीक्षा की उद्घोषणा के समान ही 'अमाघाओ-मत मारो' की घोषणा के विषय में समझना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार स्थान और दीक्षा की घोषणा करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी किन्तु स्थानदलाली और दीक्षादलाली को धर्मदलाली समझते थे उसी प्रकार 'अमाघाओ-मत मारो' की उद्घोषणा करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् ने आज्ञा नहीं दी थी किन्तु जीवरक्षा को वे धर्मदलाली एवं श्रेष्ठ समझते थे ॥११०॥

घोषणा कर प्रभु ना कहे,
पूछ्याँ थी हो कदा न देवे ज्वाब ।
स्थान दीक्षा असरी तणी,
सरखी घोषणा हो तुमें समझो सिताब ॥ भ० ॥ १११ ॥
स्थान, दीक्षा मरी तणा,
कारज चो । हो प्रभु दीना बताय ।
समदृष्टि कीना भाव सूं,
धर्म दलाली हो धर्म नो फल पाय ॥ भ० ॥ ११२ ॥

भावार्थः—स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा के लिए घोषणा करने की तीर्थङ्कर भगवान् आज्ञा नहीं देते और घोषणा करने के लिए पूछने पर कोई उत्तर नहीं देते हैं किन्तु साधु को ठहरने के लिए स्थान दिलवाना, दीक्षा दिलवाना और जीवरक्षा करवाना ये तीनों धर्मदलाली है और ये तीनों कार्य श्रेष्ठ हैं ऐसा तीर्थङ्कर प्रभु ने स्पष्ट फरमाया है और विवेकवान् समदृष्टि पुरुषों ने इन तीनों कार्यों को करके धर्मदलाली का महान् लाभ प्राप्त किया है ॥१११–११२॥

'अमाघाओ' म दया तणो,
वीर भाख्यो हो प्रथम संवर द्वार।
ते घोषणा कोणि करी,
मत रो हो घोषणा रो सार ॥ भ० ॥ ११३ ॥

पर ने कह्यो स्था देवजो,
दीक्षा लेवो हो पर ने कह्यो ताम।
मत मारो तिम पर ने ह्यो,
ए सरीखा हो तीनो ये म ॥ ० ॥ ११४ ॥

दो में धर्म केवो तुमें,
तीजा में हो बतावो पाप।
ोटी श्रद्धा छै म भणी,
मिथ्या दी हो मे दीसो छो साफ ॥ ० ॥ ११५ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार मे वीर भगवान् ने रक्षा के ६० नाम फरमाये है जिनमें 'अमाघाओ' भी एक नाम है अर्थात् दया-जीवरक्षा को अमाघाओ कहते हैं। इसकी घोषणा राजा श्रेणिक ने करवाई और अपने राज्य मे सब को यह सूचित किया था कि 'कोई किसी जीव को मत मारो।'

जिस प्रकार स्थान विषयक घोषणा करके राजा श्रेणिक ने दूसरो को यह सूचित किया था कि तुम भगवान् को ठहरने के लिए स्थान दो और श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की घोषणा करके दूसरों को यह कहा था कि 'तुम अपनी इच्छानुसार दीक्षा लो'

उसी प्रकार जीवरक्षा की घोषणा कर श्रेणिक राजा ने दूसरों को यह कहा था कि 'तुम किसी जीव को मत मारो।' इस तरह स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा ये तीनो कार्य एक समान हैं किन्तु तेरह पन्थी लोग दो कार्यों मे अर्थात् स्थान और दीक्षा के कार्यों मे धर्म बताते हैं किन्तु तीसरा जो जीवरक्षा का कार्य है उसमें वे पाप बताते है यह उनकी पक्षान्धता है, खोटी श्रद्धा है इससे वे स्वतः मिथ्यावादी साबित होते है क्योंकि जब स्थान, दीक्षा और जीवरक्षा इन तीनो कार्यों को भगवान् ने एक समान फरमाया है तब उन लोगो को तीनो मे एक समान धर्म मानना चाहिए। यदि पूर्व जन्म के पापो के उदय से उन लोगों को सर्वत्र पाप ही पाप दिखाई देता हो और पाप कहने की उनकी टेव पड़ गई हो तो फिर उन्हे इन तीनो एक समान कार्यों मे एक समान पाप मानना चाहिए किन्तु दो कार्यों में धर्म और तीसरे मे पाप कहना मिथ्यावादिता है और इस बात को जाहिर करता है कि जीवरक्षा के साथ उन लोगो को द्वेप है। इसलिए जीवरक्षा का नाम सुनते ही वे पाप पाप की रट लगाने लगते है ॥११३-११५॥

(कहे) 'मत मार थी नरक रुकी हीं'
(तो) स्थान दलाली थी रुकी नहीं केम ?
(यदि कहो) आगे एहना फल पामसी,
(तो) मत मार रा हो तुमें जाणो एम ॥म०॥ ११६ ॥

नरक जावा रा नाम थी,
मत मार में हो बताओ पाप।

तो श्रेणि भक्ति बहु करी,
थारे लेखे हो ते ग ा कलाप ॥ ० ॥ ११७ ॥

जो क्ति ादि किया थकी,
तीर्थङ्कर हो होसी श्रेणि राय ।
(जो) मत मार दलाली धर्म री,
पद तीर्थङ्कर हो अभयदा रे ाय ॥ ० ॥ ११८ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि श्रेणिक राजा ने 'मत मारो' की घोषणा करवाई थी फिर भी उसका नरकगमन तो रुका नही तो उन लोगो से पूछना चाहिए श्रेणिक राजा ने स्थान देने की घोषणा करवाई थी उस स्थान दलाली से उसकी नरक क्यों नहीं रुकी ? इस पर यदि वे यह कहे कि नरक का आयुष्य उसका पहले बंध चुका था इसलिए नरकगमन नहीं रुक सका किन्तु स्थान दलाली का फल उन्हे अगले जन्म मे मिलेगा तो इसी तरह उन लोगों को सरल बुद्धि से यह भी समझना चाहिए कि 'जीवरक्षा' की दलाली का फल भी उन्हे अगले जन्म मे मिलेगा ।

यदि कोई हठाग्रही इस बात का हठ करे कि 'मत मारो' की घोषणा करके जीवरक्षा की दलाली करने पर भी श्रेणिक राजा का नरकगमन नहीं रुक सका था इसलिए हम (तेरहपन्थी) जीव-रक्षा मे पाप बताते हैं तो उन हठाग्रहियों से पूछना चाहिए कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर की भक्ति आदि बहुत की थी फिर भी उसका नरकगमन नहीं रुक सका तो तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तुम्हे भगवान् महावीर स्वामी की भक्ति मे भी

पाप मानना पड़ेगा। यदि तुम यह कहो कि राजा श्रेणिक का नरक का आयुष्य बंध चुका था इसलिए उसका नरकगमन नहीं रुक सका किन्तु उसने भगवान् की जो भक्ति आदि की थी वह उसकी व्यर्थ नहीं गई, उस भक्ति के फलस्वरूप वह अगले जन्म में तीर्थङ्कर पद प्राप्त करेगा तो तुम्हें इसी तरह सरलबुद्धि से जीव-रक्षा के विषय में भी यही बात माननी चाहिए कि 'मत मारो' की घोषणा करके श्रेणिक राजा ने जीवों को अभयदान दिलवाया था। अत. इस जीवरक्षा (अभयदान) रूप धर्म दलाली से वे अगले जन्म में तीर्थङ्कर पद प्राप्त करेंगे ॥११६–११८॥

'मत मार' घोषणा राय री,
थें बतावो हो मोटा राजां री रीत * ।
शास्त्र विरुद्ध तुम या कथी,
कुण माने हो थांरी परतीत ॥ भ० ॥ ११६ ॥

तीर्थङ्कर चक्री मोटका,
ज्यां रे नामे हो थां कियो पखपात ।
मत मार घोषणा नहीं करी,
थांरा मुख थी हो उत्थप गई बात ॥ भ० ॥ १२० ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

श्रेणिक राय पडहो फेरावियो,
ए तो जाणो हो मोटा राजां री रीत ।

(अनुकम्पा ढाल ५ गाथा ३७)

जो रीत मोटा रा जां तणी,
तो चक्री हो पाली नही केम ।
अनुकम्पा रा द्वेष थी,
नहीं सूझे हो निज बोल्या रो नेम ॥ भ० ॥ १२१ ॥

भावार्थः—ये लोग कहते है कि श्रेणिक राजा ने 'मत मारो' की जो घोषणा करवाई थी उससे उसे धर्म नहीं हुआ क्योंकि इस प्रकार की घोषणा करवाना यह तो बड़े राजाओं की रीति है। इससे आगे वे लोग यह कहते है कि 'मत मारो' ऐसी घोषणा करवाने मे धर्म नही है क्योंकि ऐसी घोषणा करवाने मे धर्म होता तो दूसरे राजा भी ऐसी घोषणा करवाते किन्तु श्रेणिक राजा से पहले बड़े बड़े तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि राजा हो गये हैं किसी ने भी ऐसी घोषणा नहीं करवाई थी।

इनकी ये उपरोक्त दोनो बाते परस्पर विरोधी हैं क्योंकि एक तरफ तो वे कहते है कि ऐसी घोषणा करवाना बड़े राजाओं की रीति है और दूसरी तरफ वे स्वयं कह रहे हैं कि बड़े बड़े तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि राजा हो गये हैं उन्होने किसी ने ऐसी घोषणा नही करवाई। इस प्रकार जिस बात की स्थापना उन्होंने अपने मुख से की थी उसी बात की उत्थापना वे अपने ही मुख से कर रहे है अर्थात् अपने कथन का अपने आप ही खंडन कर रहे है। इस प्रकार की घोषणा करवाना यदि बड़े राजा लोगो की रीति होती तो श्रेणिक राजा से पहले जो तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव जैसे बड़े-बड़े राजा हो गये हैं उन्होने इस रीति का पालन क्यो नही किया ? उन्हें भी राजा लोगों की इस रीति का पालन करने के

लिए ऐसी घोषणा करवानी ही पड़ती किन्तु उन लोगो ने (तेरह पन्थियो ने) अपने मुख से ही इस बात को स्वीकार किया है कि किसी भी राजा ने ऐसी घोषणा नहीं करवाई थी।' इस प्रकार उन लोगो ने जो यह बात कही थी कि 'ऐसी घोषणा करवाना बड़े राजाओ की रीति है' उसका खण्डन उनके मुख से ही हो गया। जो व्यक्ति अपनी बात का खण्डन अपने ही मुख से करे वह मूर्ख कहलाता है उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता है।

उन लोगों को तो जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए जहाँ भी 'जीवरक्षा' का प्रकरण आया है उसमे उन्होने पाप बतलाने की धृष्टता की है। एक कवि ने कहा है.—

अति रमणीये काव्ये, पिशुनो दूषणमन्वेषयति ।
अति रमणीये वपुषि, व्रणमिव मक्षिकानिकरः ॥

अर्थात्:—अच्छे रमणीय काव्य मे भी छिद्रान्वेषी धूर्त लोग उसी प्रकार दोष को खोजा करते है जिस प्रकार बहुत रमणीय शरीर मे भी मक्खी केवल घाव ही खोजा करती है।

इसके अनुसार सर्वज्ञों के प्रतिपादित करुणा से भरे हुए शास्त्रो मे भी तेरह पन्थी लोग केवल 'पाप ही पाप' खोजा करते हैं। ऐसा करने का कारण या तो उनका स्वभाव ही ऐसा है अथवा उनकी अपने मत के प्रचार की स्वार्थ बुद्धि है। यदि ऐसा न होता तो तेरह पन्थी लोग जीवरक्षा (दया) मे पाप सिद्ध करने के लिये महापुरुषो द्वारा सेवित आदर्शों को विकृत बनाने का प्रयत्न क्यों करते ?

जीवरक्षा से उन्हें इतना द्वेष है कि जीवरक्षा में पाप बताने की धृष्टता करते समय उन्हें अपने वचन का भी ध्यान नहीं रहता। बेभान होकर ऊटपटांग बकते हुए अपनी सुधबुध ो बैठते हैं। ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में ऐसे जीव सचमुच दया के पात्र हैं ॥११६-१२१॥

' त मारो' ने 'दीक्षा' री घोषणा,
राज रीति हो केवल ते नाय।
मदृष्टि राजा णी,
कृ श्रेणि हो ीधी सूत्र रे ांय ॥ भ० ॥ १२२ ॥

'दीक्षा' री उद्घोषणा,
कृष्ण छोड़ी हो दूजा राजा री नांय।
(पिण) निषेध हीं इण बात रो,
करी हो ी हो कोई समदृ राय ॥ ० ॥ १२३ ॥

भावार्थ:—'मत मारो' इस प्रकार जीवरक्षा की घोषणा करना और 'दीक्षा' की घोषणा करना यह राजा लोगों की सिर्फ रीति नहीं है किन्तु श्रेणिक राजा और श्रीकृष्ण महाराज इन दोनों विवेकवान समदृष्टि राजाओं ने ऐसी घोषणाएं करवाई है जिनका उल्लेख शा ों से मिलता है। दूसरे राजाओं के विषय में उल्ले तो नहीं है किन्तु शायद किसी समदृष्टि राजा ने ऐसी घोषणा करवाई हो तो उसके लिए शास्त्रों मे निषेध भी नहीं है।

दीक्षा के विषयक घोषणा के लिए तो श्रीकृष्ण महाराज के सिवाय दूसरे राजा का इस विष जिक्र ही नहीं है ॥१२२-१२३॥

ब्रह्मदत्त चक्री भणी,
चित्त लि हो समझावण आय।
आरज कर्म ने आदरो,
परजा री हो अनु म्पा लाय ॥ भ० ॥ १२४ ॥

पिण भारी कर्मी राय जी,
जीव रक्षा रो हो नहीं कीनो उपाय।
तुमें नुकम्पा रा द्वेष थी,
सत सार में हो देवो पाप बताय ॥ भ० ॥ १२५ ॥

भावार्थः—प्रजा हित, परोपकार जीवरक्षा आदि आर्य कर्म करने के विषय मे उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन मे एक जिक्र आता है। वह इस प्रकार हैः—

'चित्त मुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को समझाने के लिए उसके पास आये। पहले तो मुनि ने राजा को सांसारिक समस्त वन्धनो को तोड़कर दीक्षा स्वीकार करने के लिए उपदेश दिया किन्तु राजा इसके लिए तैयार नही हुआ तब मुनि ने कहा कि हे राजन्! यदि इतना नही कर सकते तो प्रजा पर अनुकम्पा करना, जीवरक्षा करना आदि आर्य कर्म को तो ग्रहण करो किन्तु भारीकर्मा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इन आर्य कर्मो को भी ग्रहण नही कर सका, अनार्य कर्मो मे ही आसक्त बना रहा जिसके फलस्वरूप वह सातवीं नरक को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अनुकम्पा के उपदेश का जिक्र शा मे मिलता है किन्तु भीषण मतानुयायियों को तो अनुकम्पा से द्वेष है इस

लिए वे श्रेणिक राजा के 'मत मारो' की घोषणा रूप अनुकम्पा (जीवरक्षा) के कार्य मे पाप बताते हैं ॥१२४-१२५॥

ज जी बके भां ज्यूँ,
वेश्या रा हो देवे दृष्टान्त कूढ ।
कर्मी अनु म्पा किम करे,
तो पिण ोटी हो कुगुरु ाणे रूढ ॥ ०॥ १२६ ॥

भावार्थः—अनुकम्पा से उन्हे कितना भारी द्वेष है यह इसी से स्पष्ट ात हो जाता है कि अनुकम्पा को उठाने के लिए वे लज्जा को तिलाञ्जलि देकर भांड की तरह बकवाद करते हैं और वेश्या के खोटे खोटे दृष्टान्त देते है किन्तु मन मे इतना नही सोचते कि कुकर्मी मनुष्य कर्म द्वारा धर्म का कार्य कैसे कर सकता है ? फिर भी वे लोग अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते है ॥१२६॥

(कहे) दो वेश्या ाईवाड़े गई,
ा दे ी हो ीों रा संहार ।
दो ों ी ो करी,
मर ा राख्या हो जीव दोय हजार ॥ भ० ॥ १२ ॥

ए गहणो देई आपणो,
ति छोड़ाया हो जीव ए हजार ।
दूजी श्रो ाया इण ि धे,
ए दोय सूं हो चौथी ाश्र से ार ॥ भ० ॥ १२८ ॥

इस ही पूछे साधु ने,
धर्म पाप हो कहो किण ने होय ।
जीव बेहू छोड़ाविया,
* संख्या सरखी हो फरक नहीं कोय ॥ भ० ॥ १२६ ॥

भावार्थ:—अनुकम्पा मे पाप बतलाने के लिए भीषणजी ने एक दृष्टान्त दिया है:—

दो वेश्याए कसाईखाने मे गई। वहाँ बहुत जीवो का संहार होता देखकर दोनो ने विचार किया और दो हजार जीवो को मरने से बचाया। एक वेश्या ने तो अपना जेवर देकर एक हजार जीव बचाये और दूसरी वेश्या ने कसाईवाड़े मे एक-दो कसाइयो से चौथा आश्रव (अब्रह्मचर्य यानी व्यभिचार) सेवन करा कर एक हजार जीव बचाये। इनमे एक वेश्या ने अपने गहने देकर पाँचवे आश्रव (परिग्रह) का सेवन कराया और दूसरी ने चौथा आश्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया। इन दोनो के पाप मे कोई फर्क नही है। अतः यदि धर्म होगा तो दोनो ही को बराबर होगा।

---

* जैसा कि वे कहते है:—

एकण सेवायो आश्रव पांचमो,
तो उण दूजी हो चौथो आश्रव सेवाय।
फेर पड्यो तो इण पाप मे,
धर्म हूसी हो ते तो सरीखो थाय ॥ ५४ ॥

(अनुकम्पा ढाल ५ गाथा ५८)

इनके कहने का अभिप्राय यह है वि धन देना पाँचवें आश्रव का सेवन कराना है और व्यभिचार कराना चौथे आश्रव ा सेवन कराना है। इसलिए यदि धन देकर जीव बचाना धर्म है तो व्यभिचार कराकर जीव बचाना भी धर्म है क्योंकि धन देना पाँचवें आश्रव का सेवन कराना है और व्यभिचार रना चौथे आश्रव का सेवन कराना है। दोनो ही आश्रव हैं। इसलिये चाहे धन देकर जीव छुड़ावे या व्यभिचार करके जीव छुड़ावे दोनो एक ही समान है।

जीवरक्षा में पाप बतलाने के लिए उन्होंने कैसी असभ्यता पूर्ण अश्लील युक्ति दी है। इस युक्ति के आगे तो लज्जा को भी ल त हो जाना पड़ता है। यह युक्ति किसी दूसरे की भी नहीं किन्तु तेरह पन्थ सम्प्रदाय के मूल सं ापक श्रीमान् भीषणजी स्वामी की स्वयं की कही हुई है !!

उपरो कुयुक्ति पूर्ण दृष्टान्त देकर वे जीवरक्षा मे धर्म मानने वाले साधुओं से पूछते हैं कि दोनों वेश्याओ ने एक-एक हजार जीवों की बराबर रक्षा की है, बतलाओ किसको धर्म आ और किसको पाप ? यदि जीवरक्षा करना धर्म है तो दोनों को समान धर्म मानना होगा ॥१२७-१२९॥

(उत्तर) भोलां ने भड़काविया,
दृष्टान्त नी हो रची ाया जा ।
करड़ो त्तर बिन दियां,
हीं टे हो यांरी जाल करा ॥ ० ॥ १३० ॥

ँटा थी ाँटो दृणो,
ते थी सुणने हो मत करज्यो री ।

कुहेतु शल्य उधारवा,
करड़ा दृष्टान्त हो देऊं विश्वा बीस ॥ भ० ॥ १३१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त देकर इन्होंने भोले लोगों को भ्रम से डालने का प्रयत्न किया है। इस कठोर प्रश्न का उत्तर भी कठोर दिये बिना इनका मायाजाल कट नहीं सकता। जिस प्रकार कांटे से कांटा निकाला जाता है उसी प्रकार इनके कुहेतु रूप कांटे को निकालने के लिए एक कठोर दृष्टान्त दिया जाता है जिसे सुन कर कोई गुस्सा न करें क्योंकि वास्तव मे यह दृष्टान्त हमारा नही है। ऐसे दृष्टान्तो की उपज तो भीषणजी के मस्तिष्क से ही होती है। अतः उन्ही के दृष्टान्त मे कुछ थोड़ा सा परिवर्तन करके वही दृष्टान्त उनके लिए लागू किया जाता है क्योंकि जो कीचड़ उछालता है वह कीचड़ उसी पर गिरता है। इस कुदृष्टान्त रूप कीचड़ को तय्यार करने वाले एवं उछालने वाले वे है इस लिए यह कीचड़ उन्ही पर गिरे यह स्वाभाविक है ॥१३०-१३१॥

दो बाँया अनुराग म भणी,
पूज्य दर्शण हो गई रेल रे माँय
किण विध ई बायां म्हें,
पूज्य पूछ्यो हो बायां कहे सुणाय ॥ भ० ॥ १३२ ॥

(एक) गहणो बेच्यो म्हें आपणो,
रोक रुपीया हो कीना दर्शन काज।
रची गाँठे बाँध ने,
तुम दर्शन हो आई महाराज ॥ भ० ॥ १३३ ॥

सेवा करसूं थाहरी,
रची ास्यूं हो थाने वेरास्यूं ाल ।
दूजी कहे मुझ ाँभलो,
इणविध से हो मैं आई चाल ॥ भ० ॥ १३४ ॥

रची हीं थी मुझ ने,
आवण री हो तुम पासे चाय ।
ए दोय से रींझाय ने,
रची लीधी हो चौथो आश्रव सेवाय ॥ भ० ॥ १३५ ॥

दर्शण रची कारणे,
चौथो ाश्रव हो सेव्यो चित्त चा ।
ाछूं ने ाल वेरायस्यूं,
इ बो ाी हो पूज्य गता बाय ॥ ० ॥ १३६ ॥

(ए) दर्ा सुर्ा यो तिहाँ,
वाँ रा पूज्य ने हो पूछ्यो प्रश ए ।
(यामें) ध र्णी पाप ाी कोण ै,
ावो हो थाँरी श्रद्धा ने दे ॥ ० ॥ १३७ ॥

सेव्यो आश्रव ए पाँच ाो,
दूजी ाई हो चौथो आश्रव सेव ।
दोयाँ रो भेद ब ाय दो,
आ सरखा हो थारे ारा देव ॥ ० ॥ १३८ ॥

भावार्थः—मान लीजिये तेरह पन्थ सम्प्रदाय के पूज्यजी का चतुर्मास किसी शहर में है। उनके पन्थ को मानने वाली दो विधवा स्त्रियो की उनके पूज्यजी के दर्शनार्थ जाकर सेवाभक्ति का लाभ लेने की इच्छा हुई। तब वे दोनों रेल में बैठ कर पूज्यजी के पास पहुँच गईं। पूज्यजी उन दोनो की गरीबी हालत जानते थे इसलिए उनसे पूछा कि "तुम दोनो किस प्रकार आई? यहाँ तक आने के लिए खर्च कैसे प्राप्त किया?"

तब उनमें से एक ने कहा कि मैंने अपना गहना बेच कर रुपये प्राप्त कर लिये। उनसे टिकिट खरीद कर यहाँ आई हूँ। कुछ दिन आपकी सेवा करूँगी और आपको आहार पानी वहरा कर दान का लाभ प्राप्त करूँगी।

दूसरी ने कहा-मेरे पास भी खर्च न था किन्तु आपके दर्शन करने की मेरी तीव्र इच्छा थी। तब मैंने एक दो सेठो को खुश करके उनसे चौथा आश्रव का सेवन करा कर उनसे रुपये प्राप्त कर लिये और इतनी खरची साथ लाई हूँ कि पूरे चार महीने तक मैं आपकी सेवा करूँगी। मिष्टान्नादि माल बना कर स्वयं भी खाऊँगी और आपको भी खूब बहराऊँगी (दान दूंगी)।

वहाँ कोई मध्यस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक बैठा हुआ था। उपरोक्त दोनो स्त्रियो की बात को सुन कर उसने पूज्यजी से पूछा कि 'इन दोनो स्त्रियो मे कौन धार्मिक और कौन पापिनी है?" इन मे से एक ने पाँचवें आश्रव (परिग्रह) का सेवन कराया है और दूसरी ने चौथे आश्रव (व्यभिचार) का सेवन कराया है। आपकी मान्यता में चौथे आश्रव का सेवन और पाँचवे आश्रव का सेवन कराना दोनो बराबर है। इसलिए आप अपनी मान्यतानुसार इस प्रश्न का उत्तर दीजिये कि इन दोनो मे कौन धार्मिक और कौन पापिन हैं या दोनों समान हैं? ॥१३२-१३८॥

सुण घबराया पूज्यजी,
उत्तर देतां हो उठे श्रद्धा री टे ।
सरी ी हयां शोभे हीं,
लोक निन्दे हो कलं री रे ॥ भ० ॥ १३९ ॥

डर । इणविध गोलिया,
गहणो वेची हो ीधा दर्शन सार ।
ति री बुद्धि तो निरमली,
तेने हुवो हो धर्म फल अपार ॥ भ० ॥ १४० ॥

बीजी लच्चणी नार है,
दर्शन ाजे हो चौथो आश्रवद्वार ।
सेव्यो ते महा पापणी,
चिकलणी रे हो धर्म नाहीं लिगार ॥भ०॥ १४१ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रश्न को सुनकर तेरहपन्थी पूज्यजी बड़े विचार मे पड़ गये कि अब क्या किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देने से हमारे पन्थ की पोल खुल जाती है। इन दोनो स्त्रियो को समान कहने से तो लोक मे निन्दा होती है, सब लोग हमारे पन्थ को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और थू थू करते हैं। तब इस लोकनिन्दा से डरते हुए पूज्यजी ने जवाब दिया कि—जिसने अपना गहना बेच कर हमारे दर्शन किये है वह निर्मल बुद्धिवाली एवं विवेक वाली है। उसको धर्मफल हुआ है, वह धार्मिक है और दूसरी ी जिसने हमारे दर्शन के निमित्त चौथे आश्रव

(व्यभिचार) का सेवन कराया है वह कुलटा, दुराचारिणी है। साधु के दर्शन से उत्पन्न होने वाला धर्म उसे नहीं हो सकता। उसे विवेक नहीं है। वह धर्म को लज्जित करने वाली महा-पापिणी है ॥१३९-१४१॥

तब बोल्यो तिहां समकि ती,
थारी श्रद्धा हो थारे कथने कूड़।
आश्रव सेव्या बेहू जणी,
फर्क भाख्यो हो तुमे तज ने रूढ ॥ भ० ॥ १४२ ॥

दर्श सेवा वांरी सरीखी,
फेर पड्यो हो क्यों यांरे मांय।
ए धर्मी ए पापिणी,
िकम होवे हो थारा मत रे मांय ॥ भ० ॥ १४३ ॥

एक सेव्यो आश्रव पांचमो,
चौथो आश्रव हो दूजी सेवी ने आय।
फेर पड्यो इण पाप में,
धर्म होसी हो ते तो सरीखो थाय ॥ भ० ॥ १४४ ॥

भावार्थः—यह सुन कर प्रश्नकर्त्ता ने कहा कि "एक ने तो पाँचवें आश्रव का सेवन किया है और दूसरी ने चौथे आश्रव का सेवन किया है फिर इन दोनो को आप एक समान क्यो नहीं मानते ? जिसने पाँचवे आश्रव का सेवन करके आपके दर्शन का लाभ लिया है उसे धार्मिक और चौथे आश्रव का सेवन करके

ापके दर्शन का ाभ उठाने वाली को आप पापिनी क्यों हते हैं ? जीवरक्षा के विषय में दो वेश्या ों का दृष्टान्त दे र ापने यह माना था कि पाँचवें आश्रव का सेवन और चौथे आश्रव का सेवन दोनो एक समान है। अब ापके दर्शन के लिए पांचवां आश्रव और चौथा आश्रव सेवन करने वाली इन दोनों ि यो मे भेद क्यो करते है ? इस प्रकार भेद रने से क्या ापकी पूर्वोक्त मान्यता इस कथन से ण्डित नहीं होती है ? असत्य ाबित नही होती है ? इन दोनो ि यो ने आपके मतानुसार समान आश्रव का सेवन किया है और एक समान आपके दर्शन और सेवा का लाभ लिया है। फिर आप इनमे इतना भेद क्यो करते हैं ? एक को धार्मिक और दूसरी को पापिणी क्यों मानते है ? ॥१४२–१४४॥

सीधा ते बोलिया,
दोनां री हो मति ए ी नाय।
गहणो बेच्यां जावे नहीं,
पाप ो ो हो ते ाय ि णाय ॥ ० ॥ १४५ ॥

ो ओढ्यो सिणगार रो,
ता री ो ता दि धार
(तेथी) पे ी हुवे ि ा,
ज्ञान दृ हो इम र ो विचार ॥ ० ॥ १४६ ॥

दूजी दुरगुण थीं भरी,
द रा हो भ ि ण विध होय।

मात असंभवती दिसे,
दृष्टान्ते हो कदा मानां सोय ॥ भ० ॥ १४७ ॥

तो मति खोटी तेहनी,
कुकर्मिणी हो मोटो कीनो अन्याय ।
पाप सेव्यो अति मोटको,
फिट फिट हो हुवे जगत रे माय ॥ भ० ॥ १४८ ॥

लोभ मिट्यो नहीं तेहनो,
तीव्र बधियो हो तिणरे मोह जंजाल ।
ते थी पापणी दूजी नार है,
दर्शन री थोथो आल पंपाल ॥ भ० ॥ १४९ ॥

भावार्थः—उपरोक्त प्रश्न के उत्तर मे विवश होकर उनके पूज्यजी को यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु-दर्शनार्थ अपना गहना बेचा है उसने शृङ्गार और द्रव्य से अपना ममत्व हटाया है और गहना बेचने से उसके चारित्र मे किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई है अतः वह धार्मिक है। जिसने व्यभिचार सेवन करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह विषयानुरागिणी है धर्मानुरागिणी नहीं। ऐसी विषयानुरागी स्त्री की साधु-दर्शन की इच्छा कैसे हो सकती है ? अतः यह असम्भव सी बात है। फिर भी यदि यह माना जाय कि यह तो एक दृष्टान्त दिया गया है तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि पापमयी है। वह दुराचारिणी है। उसने महा-पाप का कार्य किया है। दुनिया उसे धिक्कारती है। उसका

लोभ छूटा नहीं किन्तु तीव्र मोह जंजाल बढ़ा है। ऐसी दुराचारिणी ि यों की साधुदर्शन का नाम लेना केवल ढोंग है। इस लिए वह ी पापिनी है ॥१४५-१४६॥

न्याय च्ची तब बोलियो,
सेवा रो हो थारे दीखे राग।
ते थी सीधा बोलिया,
जीव रत्ता में हो दीनो सत्य ने त्याग॥ भ० ॥ १५० ॥

कथ विचारो तु तणो,
दो वेश्या रा थां ीनो ाम।
गह ा ने व्यभिचार थी,
जीवरक्षा रो हो त्यां ीधो का ॥ भ० ॥ १५१ ॥

वेश्या रत्ता किम रे,
अनुकम्पा हो तेने ि होय।
कुकर्मि ी महा पापि ी,
दया द्वेषिणी हो नर गा ि णी सोय॥ ० ॥ १५२ ॥

शोचाचारी कागलो,
धनरत्त हो कहे चोर ने कोय।
पति ता व्यभिचारिणी,
ो ाखे हो मूर र सोय॥ भ० ॥ १५३ ॥

(तिस) वेश्या दयालु थाप ने,
जीव बचाया हो दोनों रे हाथ ।
लोकां ने भड़कायवा,
अणहोती हो थां थापी वात ॥ स० ॥ १५४ ॥

भावार्थ —उनके उपरोक्त उत्तर को सुन कर उस प्रश्नकर्त्ता मध्यस्थ पुरुष ने उनसे कहा कि दर्शन और सेवा के प्रति आपका अनुराग प्रतीत होता है। इसीलिए आपने दर्शन और सेवा के विषय मे पूछे गये प्रश्न का तो सीधा उत्तर दिया है किन्तु जीव-रक्षा के विषय मे आप इस प्रकार सत्यतापूर्वक सीधा उत्तर नहीं देते। आप अपने कथन को याद कीजिये। आपने दो वेश्याओ का दृष्टान्त दिया था। उसमे अपना गहना देकर जीव बचाने वाली और व्यभिचार सेवन करा कर जीव बचाने वाली दोनो को आपने समान बतलाया था। ये ही दोनों कार्य करके अर्थात् अपना गहना बेच कर और व्यभिचार सेवन करा कर आपके दर्शन और सेवा करने वाली दो स्त्रियों मे आप पहली को धार्मिक और दूसरी को पापिनी कहते हो किन्तु जीवरक्षा के विषय मे आप इन दोनो को एक समान बताते हो क्या यह आपका अन्याय नहीं है? आपके दर्शन और सेवा करने वाली उपरोक्त दोनो स्त्रियो के समान जीवरक्षा करने वाली वेश्याओ के विषय मे भी आप भेद क्यो नही मानते अर्थात् पहली को (गहना देकर जीव बचाने वाली को) धार्मिक और दूसरी को (व्यभिचार सेवन करा कर जीव बचाने वाली को) पापिनी क्यो नही मानते ?

सब से पहली बात तो यह है कि व्यभिचार सेवन करा कर जीवरक्षा विषयक वेश्या का दृष्टान्त ही आपका अयुक्त है

क्योंकि कुकर्म करने वाली वेश्या के हृदय मे जीवरक्षा के भाव ही कैसे आ सकते हैं ? वह तो कुकर्म करने वाली दयाद्वेषिणी नरकगामिनी है।

यदि कोई व्यक्ति कौवे को 'शौचाचारी' पवित्र आचरण करने वाला, चोर को 'धनरक्षक' गैर व्यभिचारिणी ी को पतिव्रता कहे तो वह मूर्ख कहलाता है इसी प्रकार कुकर्म से अनुरक्त रहने वाली दयाद्वेषिणी महापापिनी वेश्या को अनुकम्पा करने वाली–जीवरक्षा करने वाली कहने वाला पुरुष भी मूर्ख कहलाता है। यह असंभवित बात है। भोले लोगो को भ्रम मे डालने के लिए ऐसा असंभवित दृष्टान्त देकर जीवरक्षा मे पाप बताना जीवरक्षा द्वेषियों का कार्य है ॥१५०–१५४॥

(दा) गणि ा ह ीं होवे,
धर्मी ज री हो वा ंग पाय।
छोड़े क ा प ा,
दया गटे हो वीं रा दिल रे ाय ॥ भ० ॥ १५५ ॥

तदा गह ा ा ार ने,
रा रा हो देवे बचाय।
ारज कर्म रा साय से,
हिंस नी हो दीनी हिंसा छोड़ाय ॥ भ० ॥ १५६ ॥

ति रे विवे अ ि र लो,
जीव रक्षा हो तिण रे घट ंय।

लोभ छोड्यो सिणगार नो,
धन री तो हो दीनी ममता घटाय ॥ भ० ॥ १५७ ॥

(ते) प्रथम बाई सम जाणवी,
धर्म कर्ता हो ते गुण री खाण ।
धर्म लाभ तिण ने हुवो,
गुण निपज्यो हो अनुकम्पा प्रमाण ॥ भ० ॥ १५८ ॥

भावार्थः—यदि कदाचित् कोई वेश्या हलुकर्मी हो और उसे धर्मी पुरुष की संगति का सुयोग मिले तो वह उस धर्मी पुरुष के उपदेश से अपने पाप कर्म को छोड़ देती है तब उसके हृदय मे दयाधर्म प्रकट हो सकता है और तभी वह अपने गहनों पर से ममत्व उतार कर जीवरक्षा रूप परमधर्म का कार्य करती है। ऐसा करने वाली वेश्या हिंसक के पाप छुड़ा देती है और उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवो की रक्षा करती है। उसका विवेक अति निर्मल है। उसके हृदय में सच्ची अनुकम्पा है। जीवरक्षा के लिए अपना गहना देकर वह अपने शृङ्गार का मोह घटाती है और परिग्रह के ममत्व को छोड़ती है। वह अपना गहना बेच कर साधु-दर्शन करने वाली प्रथम स्त्री के समान धार्मिक है। उस अनुकम्पा के कारण उसे महान् धर्म लाभ हुआ है उसे अनुकम्पा रूप गुण की प्राप्ति हुई है॥१५५–१५८॥

दूजी वेश्या दुष्टणी,
निश दिन जावे हो व्यभिचार रे मांय ।
तिण रे अनुकम्पा किम हुवे,
थि में हो किम कमल उगाय ॥ भ० ॥ १५९ ॥

णिका बकरा बचाविया,
व्यभिचार ने हो सेव्यो रचा रे ाज।
या परत झूठी बात है,
थांने बोलतां हो नहीं आवे लाज॥ भ० ॥ १६० ॥

कदा हेतु मा ां तुम तणो,
तदा उत्तर हो तुमें सम हो एम।
वेश्या हुवे व्यभिचारिणी,
ोटी मति री हो करणी शुद्ध केम॥ ०॥ १६१ ॥

विपरीत मति थी जे रे,
तेनी र ी हो विपरी ही जोय।
तिणारा पत्त री थापना,
जे करे हो ते मिथ्याती होय॥ भ०॥ १६२ ॥

मिथ्यातणी व्यभिचारिणी,
तेनी रणी हो हीं धर्म रे ाय।
बन्ध फल जेहने,
ते ो प्रश्न हो पूछो किण न्याय॥ ०॥ १६३ ॥

हाथी ना र ा सारखी,
मिथ्यामति री हो करणी ध ाय।
अल्प सो पाप उतार ने,
महापाप ने हो ते तो बांधे य॥ ०॥ १६४ ॥

मिथ्यामति व्यभिचारिणी,
तेनी रणी हो श्रद्धे धर्म रे माय।
ते उत्तर तुमने दिये,
म्हें तो श्रद्धां हो तेने धर्म में नाय॥ भ०॥ १६५॥

भावार्थः—आपने जो दूसरी वेश्या का दृष्टान्त दिया है वह अयुक्त है। सदा व्यभिचार सेवन रूप पाप कर्म मे अनुरक्त रहने वाली वेश्या के हृदय मे जीवरक्षा रूप अनुकम्पा के भाव कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्या कभी अग्नि के अन्दर कमल उग सकता है? अर्थात् नही उग सकता। उसी प्रकार कर्म मे रत रहने वाली वेश्या के हृदय मे जीवरक्षा रूप धर्म के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। किसी वेश्या ने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन करा कर जीवो की रक्षा की हो ऐसा आज तक संसार मे न देखा गया है और न सुना ही गया है। अतः आपने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन कराने वाली वेश्या का जो दृष्टान्त दिया है वह प्रत्यक्ष झूठा है। ऐसा घृणित एवं असभ्यता पूर्ण अश्लील, झूठा दृष्टान्त देते हुए क्या आपको शर्म नहीं आती?

यदि वे यह कहें कि यद्यपि आज तक संसार मे ऐसा नहीं सुना गया है कि "किसी वेश्या ने जीवरक्षार्थ व्यभिचार सेवन करा कर जीवों की रक्षा की हो, यह असम्भव बात है तथापि "हमने एक काल्पनिक दृष्टान्त दिया है" तो उन्हे इस प्रकार के असम्भव काल्पनिक दृष्टान्त का उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए:—सदा व्यभिचार मे रत रहने वाली वेश्या की बुद्धि खोटी (मिथ्या) होती है। मिथ्या बुद्धि द्वारा किया गया कार्य भी मिथ्या ही होता है। जिस प्रकार हाथी को स्नान कराने

पर वह फिर अपनी ंड से धूल, मिट्टी फैंक कर पने शरीर पर पहले से भी ज्यादा मैल चढ़ा लेता है उसी प्रकार मिथ्यात्वी ी ि या भी समझनी चाहिए। प्रायः मिथ्यात्वी पुरुष अल्प पाप उतारने के लिए जो क्रिया करता है उससे वह अपने सिर महापाप चढ़ा लेता है। जो ि या कर्म बन्ध का कारण है उसके विषय मे प्रश्न पूछना ही व्यर्थ है। मिथ्यात्वी व्यभिचारिणी वेश्या की ि या धर्म मे नहीं है। जिस प्रकार आपके (तेरह पन्थियों के पूज्यजी के) दर्शनार्थ आई हुई उन दोनो ि यो मे से अपना गहना बेच कर साधु-दर्शन का लाभ उठाने वाली को धार्मिक ौर व्यभिचार सेवन करा कर दर्शन का लाभ लेने वाली को आप पापिनी कहते हैं उसी प्रकार अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली वेश्या को धार्मिक और व्यभिचार सेवन करा र जीवरक्षा करने वाली को पापिनी मानना चाहिए। जिसने पना गहना देकर जीवरक्षा की है उसने अपने गहने से प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्मा के सत्संग से दया मे चित्त लगाया है ौर बुरे कार्य से निवृत्त होकर जीवरक्षा जैसे उत्तम कार्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक है और जिसने जीवरक्षा के बहाने से व्यभिचार का सेवन किया है वह साधु-दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्री के समान ही दुरात्मा है परन्तु आप लोग साधु-दर्शनार्थ आई ई उक्त दोनों स्त्रियों मे तो झट भेद बतला देते हैं और जीवरक्षा के विषय मे उक्त दोनों ि यो को एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका क्या कारण है? यह ापका एक दुराग्रह है।

जब कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवर से प्रेम हटाने वाली ी धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षा के लिए अपने जेवर से प्रेम हटाने वाली ी धार्मिक क्यो नहीं हो सकती? अतः पना

जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्री को पापिनी कहना जीव-रक्षा द्वेषी पापियो का कार्य समझना चाहिए ॥१५६–१६५॥

वेश्या वेश्या मुख वसी,
　लज्जा छोड़ी हो देवे दृष्टान्त कूड़ ।
जीवां री रक्षा उठायवा,
　खोटी कथनी री हो मांडी अति रूढ ॥ भ० ॥ १६६ ॥

भावार्थः—मानो उन लोगो के मुख पर वेश्या का ही निवास हो इस तरह से निर्लज्ज होकर अनुकम्पा को उठाने के लिए बारबार वेश्या का खोटा दृष्टान्त देते है और अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं।

जो जिसका भक्त होता है उसके मन मे वही वसा हुआ रहता है। वह वार बार उसी का नाम लेता है। जैसा कि कहा है:—

ज्यों लोभी के मन धननी लालसा,
भोगी के मन भोग ।
रोगी के मन मानो औषधि,
जोगी के मन जोग ॥

अर्थात्:—जिस प्रकार लोभी के मन सदा धन की लालसा बनी रहती है, भोगी के मन मे भोग, रोगी के मन में औषधि और योगी के मन योग बसा रहता है एवं भक्त के मन मे भगवान् बसा रहता है। तात्पर्य यह है कि जो जिसका उपासक होता है वह उसके मन मे बसा रहता है। वह उसी का कथन किया

करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मुख पर 'वेश्या, वेश्या' यह शब्द बसा हुआ है और जो वेश्या का ही कथन करता है वेश्या का ही दृष्टान्त देता है उसे वेश्या भक्त के अतिरिक्त और । कहा जा सकता है ॥१६६॥

(कहे) ए वेश्या सावज कृत कारी,
सहस्र नाणो हो ले वलि घर माय।
दूजी कर्तव्य करी आपणो,
मरता राख्या हो सहस्र जीव छोड़ाय॥ भ०॥ १६७॥

धन ाण्यो खोटा र्तव्य करी,
तिण रे लाग्या हो दोनों विध र्म।
तो दूजी छोडाया तेहने,
उणारे लेखे हो हुवो पाप ने धर्म॥ भ०॥ १६८॥

भावार्थ.—वे लोग जीवरक्षा मे पाप सिद्ध करने के लिए फिर वेश्या का एक दृष्टान्त देते है.—एक वेश्या ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयो को लेकर अपने घर मे रख दिया। दूसरी वेश्या ने इसी तरह व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों से एक हजार जीवो को कसाई के हाथ से छुड़ा कर उनकी रक्षा कर दी।

यह दृष्टान्त देकर वे स्वयं धर्म और पाप की स्थापना करते हैं कि—पहली वेश्या को अर्थात् जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों को घर मे र लिया

उसे तो दोनो प्रकार से पाप कर्म का बन्ध हुआ और यदि जीव-रक्षा करने से धर्म माना जाय तो जीवरक्षा मे धर्म मानने वालों को यह मानना पड़ेगा कि दूसरी वेश्या को अर्थात् जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उन रुपयो से एक हजार जीवो की रक्षा की उसे पाप और धर्म दोनो हुए ॥१६७-१६८॥

एवो खोटो न्याय लगाय ने,
आप मते हो करे खोटी थाप ।
बहु विध पाप पेली कियो,
दूजी रे हो कहो धर्म ने पाप ॥ भ० ॥ १६९ ॥

हीवे कथन हमारो सांभलो,
म्हें नहीं करां हो धर्म पाप री थाप ।
मिथ्या हेतु मिथ्यामति कथे,
तेने उत्तर हो म्हें देवां साफ ॥ भ० ॥ १७० ॥

भावार्थः—उपरोक्त दृष्टान्त देकर वे लोग अपने मन से ही धर्म और पाप की स्थापना करते है किन्तु जीवरक्षा मे धर्म मानने वाले दयाधर्मी पुरुष कहते है कि जिस तरह से उन लोगो ने अपने मन से ही धर्म और पाप की कल्पना की है उस तरह से हम धर्म और पाप की स्थापना नहीं करते है। उन लोगो ने खोटा हेतु दिया है उसका उत्तर निम्न प्रकार है ॥१६९-१७०॥

एक नारी कुकर्म सेवने,
सह नाणो हो लाई घर मांय ।

दूजी सेवी व्यभिचार ने,
द्रव्य खरचे हो ाधु सेवा रे मांय ॥ भ० ॥ .७१ ॥

आण्यो खोटा री,
तिण रे लाग्या हो दोनों विध र्म ।
तो दूजी सेवा री थाँहरी,
थारे खे हो हुओ । ने धर्म ॥ भ० ॥ १७२ ॥

गिणे व्यभिचार में,
उ री सेवा में हो ते न गिणे धर्म ।
पोते श्रद्धा री बर पोते नहीं,
दया ावा हो बाँधे ारी र्म ॥ ० ॥ १७३ ॥

हया वाब न ऊपजे,
चर्चा में हो टके ।ो ।
तो ि निर ।ो । करे,
जीव र । में हो लेवे पाप रो । ॥ ० ॥ १७४ ॥

भावार्थ:—उनसे (तरह पन्थी साधुओं से) पूछना चाहिए कि—जीवर । के विषय मे जैसा आपने दृष्टान्त दिया है उसी दृष्टान्त को आप अपनी सेवा के विषय मे समझ कर धर्म और पाप की स्थापना कीजिये। जैसे कि—एक ी ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त किये और उन रुपयों को अपने घर मे र लिया। दूसरी स्त्री ने व्यभिचार सेवन करा कर एक हजार रुपये प्राप्त ि ये और वह उन रुपयों को ापकी (तेरह

पन्थी साधुओ की) सेवा मे खर्च करने लगी, खूब मेवा मिष्टान्न आदि माल आपको वहराने लगी। अब बतलाइये इन दोनों स्त्रियो मे एकान्त पाप किसको हुआ ? तथा पाप और धर्म किसको हुआ ? जीवरक्षा के विषय मे ऐसा ही दृष्टान्त देकर जैसा न्याय आपने घटाया है उसके अनुसार यहाँ पर भी आपको यह मानना पड़ेगा कि पहली स्त्री को दोनो प्रकार से पाप लगा और दूसरी स्त्री को, जिसने व्यभिचार सेवन करा कर रुपये प्राप्त किये और उनको आपकी सेवा मे खर्च कर रही है उसे पाप और धर्म हुआ।

इस पर यदि वे यह कहे कि दूसरी स्त्री को भी पाप ही हुआ। वह व्यभिचारिणी है उसे हमारी (साधुओं की) सेवा से उत्पन्न होने वाला धर्म नही हो सकता। उसका साधु-सेवा का नाम लेना बहाना मात्र है।

यही बात उनको जीवरक्षा के विषय मे भी समझनी चाहिए किन्तु जीवरक्षा के साथ उनको द्वेष है, इसलिए खोटे हेतु एवं कुयुक्तियाँ लगा कर जीवरक्षा में पाप बतलाने की धृष्टता करते हुए भारी कर्म उपार्जन करते है। जीवरक्षा मे पाप बतलाने के लिए वे लोग जो हेतु और दृष्टान्त देते है उनसे उन्ही के मत का खण्डन हो जाता है और चर्चा मे वे टिक नही सकते। स्थान स्थान पर उन्हे अटकना पड़ता है, उनकी जबान बन्द हो जाती है, उन्हे प्रश्न का उत्तर नहीं आता। फिर भी वे अपने दुराग्रह को छोड़ कर सत्य तत्त्व का निर्णय नही करते है। उनका यह दुराग्रह ही उनको मिथ्यात्वियो की कोटि मे पहुँचा देता है ॥१७१-१७४॥

जीव द्रव्य अनादि शासतो,
प्राण प्रजा हो पलटे बारंबार।

ते प्राणांरी घ हिंसा ही,
रक्षा ने दया कही सुखकार ॥ भ० ॥ १७५ ॥

ते रक्षा करे म ।व थी,
मर्दा हो संवर गुण पाय ।
मोक्ष मार्ग रक्षा हीं,
मोक्ष-अर्थी हो करे अति हर्षाय ॥ ० ॥ १७६ ॥

भावार्थः—जीव द्रव्य अनादि शाश्वत है उसकी उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होता। उसके प्राण पर्याय है वह बारंबार पलटती रहती है। उन प्राणो की घात करना हिंसा कहलाता है। जैसा कि कहा है:—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः ।
। दशैते गवद्भिरु ।-
स्तेषां वि ोजी रणं तु हिंसा ॥

अर्थात्:—पाँच इन्द्रियाँ अर्थात् (१) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण (२) रसनेन्द्रिय बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण (४) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण (६) काय बल प्राण (७) वचन बल प्राण (८) मन बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण (१०) आयुष्य बल प्राण। इन दस प्राणों मे से किसी भी प्राण का विनाश करना हिंसा है। उन प्राणों की रक्षा करना दया कहलाती है जो कि सब जीवो के लिए सुखकारी है। सम-

दृष्टि पुरुष सब जीवों को आत्म तुल्य समझ कर उनकी रक्षा करता है जिससे वह संवर गुण को प्राप्त करता है। रक्षा मोक्ष का मार्ग है। अतः मोक्षार्थी पुरुष अति हर्ष पूर्वक रक्षा धर्म का पालन करता है ॥१७५-१७६॥

पृथ्व्यादिक छहुँ काय ना,
प्राण रक्षा में हो कहे पाप अजाण।
ज्याँ हिंसा रक्षा जाणी नहीं,
खोटी कर रया हो निज मत नी ताण ॥ भ० ॥ १७७ ॥

भावार्थः—पृथ्वीकाय अप्काय तेउकाय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रस काय इन छः काय जीवो की रक्षा मे जो पाप कहते है वे अज्ञानी है। उन्होने हिंसा और रक्षा के स्वरूप को ही नही पहचाना है। अपने मत पक्ष मे पड़ कर वे दुराग्रह करते है ॥१७७॥

त्रस थावर नहीं सारखा,
ज्यांरा प्राणों में हो कह्यो फरक अपार।
तेथी हिंसा माहीं फरक छै,
स्थूल सूक्ष्म हो सूत्तर निरधार ॥ भ० ॥ १७८ ॥

भावार्थः—त्रस जीव और स्थावर जीव एक समान नहीं है। इनके प्राणो मे बहुत फर्क कहा गया है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पति काय इन पॉच स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवो मे चार प्राण होते है—स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास बल प्राण, आयुष्य बल प्राण। द्वीन्द्रिय-

अर्थात् शरीर और जिह्वा इन दो इन्द्रिय वाले लट, गंजाइ, गिंडोला, शंख, शीप आदि जीवो में छः प्राण होते हैं—चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय बल प्राण और वचन बल प्राण। त्रीन्द्रिय अर्थात् शरीर, जिह्वा और नाक इन तीन इन्द्रियो वाले, जूं, लीख, चांचड़, दमल चींटी आदि जीवो मे सात प्राण होते है—पूर्वोक्त छः और घ्राणेन्द्रिय बल प्राण। चतुरिन्द्रिय अर्थात् शरीर, जिह्वा, नाक और आँख इन चार इन्द्रियो वाले मक्खी, मच्छर, भौंरा, बिच्छू आदि जीवो मे आठ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अर्थात् जिन जीवो के मन नहीं होता ऐसे पञ्चेन्द्रिय जीवो मे नौ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण। संज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् मन वाले पंचेन्द्रिय गाय, भैंस, मनुष्य आदि जीवो मे दस प्राण होते हैं—पूर्वोक्त नौ और मन बल प्राण।

स्थावर जीव और त्रस जीवो मे उत्तरोत्तर पुण्यवानी मे भी महान् अन्तर है। जैसा कि कहा है:—

एकेन्द्री सूं बेन्द्री थयो,
पुण्याई न्ती वृद्ध रे जीवा।
सन्नी पञ्चेन्द्री लगे पुण्य
बध्या, नन्ता न्त प्रसिद्ध रे जीवा॥
विमल जिनेश्वर सेविये॥

अर्थात्—जब पुण्यवानी मे अनन्त वृद्धि हुई है तब जीव एकेन्द्रिय से बेइन्द्रिय हो सका है। इस प्रकार जब उत्तरोत्तर पुण्यवानी मे अनन्तानन्त गुणा वृद्धि होती गई है तब जीव तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हुआ है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव की पुण्य-वानी अनन्तान्त गुणा अधिक है। इसीलिए उनकी हिंसा में भी फर्क है। शास्त्रों मे भी स्थूल हिंसा और सूक्ष्म हिंसा इस प्रकार हिंसा के दो भेद कहे गये है। हिंसा की तरह रक्षा के भी दो भेद हैं—स्थूल रक्षा और सूक्ष्म रक्षा ॥१७८॥

तिम शक्य अशक्य रा भेद ने,
हिंसा रक्षा में हो समझो चतुर सुजाण।
स चय नाम बताय ने,
शक्य छोड़ने हो करे अशक्य री ताण ॥ भ० ॥ १७९ ॥

भावार्थः—स्थूल और सूक्ष्म की तरह हिंसा और रक्षा के शक्य और अशक्य ये दो भेद भी समझने चाहिए। शक्य रक्षा वह है जो की जा सकती हो और जो न की जा सकती हो वह अशक्य रक्षा है। शक्य रक्षा को छोड़ कर अशक्य रक्षा की खींचा ताण (दुराग्रह) करना अज्ञानता है ॥१७९॥

थावर रक्षा करी ना सके,
त्रस जीवां री हो करे देई ने साय।
तिण में पाप रो भर्म घुसावियो,
रक्षा रो हो द्वेष घणो घट माय ॥ भ० ॥ १८० ॥

भावार्थ—स्थावर जीवो की रक्षा सूक्ष्म रक्षा है और त्रस जीवो की रक्षा स्थूल रक्षा है। यदि कोई सूक्ष्म रक्षा न कर सकता हो किन्तु किसी पदार्थ की सहायता से स्थूल रक्षा अर्थात् त्रस जीवो की रक्षा करता हो तो वह (उतने अंश से) धर्म का

भागी होता है। जिनके हृदय में रक्षा के प्रति द्वेष घुसा आ है ऐसे रक्षाद्वेषी लोग इस रक्षा में पाप बतलाते हैं, यह उनकी अज्ञानता है ॥१८०॥

त्रिविध जी रक्षा करे,
परिग्रह री हो ममता ने हटाय।
तेने मोल रा धर्म रो नाम ले,
पाप बतावे हो द्धि चलाय ॥ ० ॥ १८१ ॥

भावार्थः—जो पुरुष अपने धन से ममत्व उतार कर मन वचन काया पूर्वक जीवों की रक्षा करता है उसमे वे भीषणमतानुयायी लोग पाप बताते है और यह कुयुक्ति देते है कि धर्म अमूल्य है। रुपया पैसा देने से धर्म नहीं होता क्योंकि रुपया पैसा देने से तो धर्म मोल का हो जाता है ॥१८१॥

म ता उ ारयाँ धर्म मोल रो,
इ बोले हो तेने पू ो एम।
व म ता परिग्रह गृहस्थ रो,
साधु ने दिया हो धर्म होवे केम ॥ ० ॥ १८२ ॥

भावार्थः—जो लोग यह कहते हैं कि अपने धन-परिग्रह से ममत्व उतारने से धर्म मोल का हो जाता है उन लोगो से यह पूछना चाहिए कि—वस्त्र-कपड़ा गृहस्थ का परिग्रह है जिस वस्त्र को खरीदने वाला १००) रुपैया दे रहा है, उस पर से ममत्व उतार कर वह कपड़ा साधु को देने से धर्म कैसे होगा ? क्योंकि तुम्हारा कथन है कि मोल से यानी अपने परिग्रह से ममत्व उतारने से धर्म नहीं होता ॥१८२॥

(कहे) ममता उतारयाँ धर्म है,
  अमोलक हो मोल रो नहीं थाय।
तो जीव रक्षा रे कारणे,
  धन ममता हो मेटे मोल में नाय ॥ भ० ॥ १८३ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे लोग यह कहें कि गृहस्थ अपने कपड़े पर से ममत्व उतार साधु को देता है इससे धर्म मोल का नहीं हो जाता क्योंकि वह तो अपने कपड़े पर से ममत्व उतारना है, ममत्व उतारने से धर्म मोल का नहीं हो जाता तो यही बात उन्हे जीवरक्षा के विषय मे भी समझनी चाहिए कि जो दयालु पुरुष अपने धन से ममत्व उतार कर जीवरक्षा करता है उससे जीवरक्षा रूप धर्म मोल का नहीं हो जाता। जीवरक्षा के लिए अपने धन से ममत्व उतारना कोई मामूली कार्य नहीं है। यह महान् त्याग का कार्य है। जिसके हृदय मे दयाधर्म है वही गृहस्थ अपने धन से ममत्व उतार कर जीवरक्षा का कार्य करता है, निर्दयी नहीं ॥१८३॥

भगवती अठारहवें शतके,
  परिग्रह उपधि रो भिन्न भिन्न न एक।
ममता थी परिग्रह कह्यो,
  उपकारे हो उपधि ने लेख ॥ भ० ॥ १८४ ॥
उपकार ममता एक है,
  इम बोले हो कुगुरु निशंक।
सूत्र वचन उत्थाप ने,
  मिथ्यात रा हो मारे माठा डंक ॥ भ० ॥ १८५ ॥

भावार्थः—भगवती सूत्र के अठारहवें शतक में बतलाया गया है कि परिग्रह और उपधि दोनो भिन्न-भिन्न हैं एक नहीं है। जिस पर ममत्व भाव हो वह परिग्रह है। जैसा कि कहा गया है:—

"च्छा परिग्गहो वुत्तो"

अर्थात्—किसी वस्तु पर मूर्च्छा-ममत्व होना परिग्रह कहा गया है।

जिसके द्वारा किसी जीव का उपकार हो वह उपधि कहलाती है। इससे यह स्पष्ट है कि परिग्रह और उपधि दोनों भिन्न-हैं एक नहीं है। जो लोग उपकार के साधनभूत उपधि को और ममत्व रूप परिग्रह को एक कहते हैं वे शास्त्र के वचनो के उत्थापक हैं। उनका कथन शा विरुद्ध है ॥१८४-१८५॥

दा शीयल तप ाव ा,
ोत्त मारग हो चारों सु ार।
भयदान य मेटे हयो,
जो देवे हो पावे भव पार ॥ भ० ॥ १८६ ॥

भावार्थः—दान, शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग कहे गये हैं। इन चारो मे दान सर्व प्रथम कहा गया है। दान के दस भेद हैं ्नमे अभयदान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। जैसे कि:—

'दाणा सेट्ठं अभयप्पयाणं'

अर्थात्—सब दानो मे अभयदान श्रेष्ठ है। मृत्यु के भय से भयभीत बने हुए प्राणी के भय को मिटाना अर्थात् उसकी

प्राणरक्षा करना अभयदान है। इस प्रकार प्राणरक्षा रूप अभय-दान का देने वाला पुरुष संसार सागर से पार हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१८६॥

अनुकम्पा अर्थ प्रकाशिनी,
ढाल जोड़ी हो चूरू शहर संभार।
उगणीसे छियासी तणे,
श्रावण सप्तमी हो सुखदायी वार॥
भवियण जिनधर्म ओलखो ॥ १८७ ॥

भावार्थः—संवत् १६८६ श्रावण कृष्णा सप्तमी सोमवार के दिन बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू शहर में यह अनुकम्पा के अर्थ को प्रकाशित करने वाली सातवीं ढाल सम्पूर्ण की गई है ॥१८७॥

॥ इति सातवीं ढाल सम्पूर्ण ॥

❀ दोहा ❀

हणे हणावे जीव ने, स्वदया कही जिन रा ।
औरों री रक्षा करे, ते परदया हाय ॥ १ ॥

भावार्थः—स्वयं किसी जीव को न मारना और दूसरों से भी न मरवाना तथा मारने वालो की अनुमोदना न करना, इसे तीर्थङ्कर भगवान् ने स्वदया कहा है और मरते हुए प्राणियो की रक्षा करना इसे पर-दया कहा है ॥१॥

न हणे तेने दया हे, रक्षा ने हे पाप ।
एह वचन गुरु त ा, दी पर-दया उत्थाप ॥ २ ॥

भावार्थः—जो लोग 'किसी जीव को न मारना' इसे तो दया कहते हैं किन्तु "मरते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करना" इसे पाप कहते हैं वे लोग तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के उत्थापक निन्हव हैं ॥२॥

स्वदया परदया बिहू कही, ठाणायंग रे ाय ।
चौथे ठाणे दे ो, ि थ्या तिि र मि टाय ॥ ३ ॥

भावार्थः—ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में—

"चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तंजहा—
आयाणु ंपए ामेगे णो पराणुकंपए ॥"

अनुकम्पा की इस चौभङ्गी मे स्व-अनुकम्पा (स्व-दया) और पर-अनुकम्पा (पर-दया) दोनों कही हैं। स्वदया और पर-दया दोनो मे धर्म है। पर-दया मे पाप कहना अज्ञानता है ॥३॥

भेषधारी भरम्यां घणा, मिथ्या उदय विशेप।
भोलां ने भरमाविया, काठ दया री रेप ॥ ४ ॥

भावार्थः—कितनेक साधु भेपधारी अज्ञानी जीव महा मिथ्यात्व के उदय के कारण भ्रम मे पड़ गये हैं। आप स्वयं भ्रम मे पड़ कर तथा दया को तिलाञ्जलि देकर भोले जीवो को भी भ्रम मे डाल दिया है ॥४॥

पर-दया उठावया, पड़पंच रच्या अनेक।
सूत्र न्याय सूं खण्डन करूं, सुणज्यो आण विवेक ॥५॥

भावार्थः—उपरोक्त साधु भेपधारी अज्ञानी जीवो ने पर-दया (पर-अनुकम्पा) को उठाने के लिए अनेक प्रकार के माया-जाल रचे हैं। सूत्र के न्यायानुसार उस माया जाल का खण्डन किया जाता है। अतः विवेक पूर्वक उसका श्रवण करो ॥५॥



: ढा - ठवीं :



(तर्ज—अनुकम्पा सावज मत जाणो)

द्रव्य लाय में ले जद प्राणी,
आर ध्य पावे दुख भारी ।
बिलबिलता रुद्र ध्य जो ध्यावे,
अनन्त ार बधे दुखकारी ॥
चतुर धर्म रो ि र्णय कीजे ॥ १ ॥

भावार्थः—लाय दो प्रकार की कही गई है—(१) द्रव्य लाय और (२) भाव लाय। अग्नि मे जलना द्रव्य लाय है और ार्त्त-रौद्र ध्यान करना भाव लाय है। जब कोई प्राणी द्रव्य लाय (अग्नि) मे जलता है तब अत्यन्त दुःख पाता आ एवं बिलबिलाहट करता ा वह प्राणी आर्त्त-रौद्र ध्यान करता है जिससे उसका दुःखकारी अनन्त संसार बढ़ जाता है ॥१॥

कोई दयावन्त दया दिल धारी,
ग्नि में बल ां ने जो चावे ।
द्रव्य भा दया तिण रे हुई,
विवरो ाो तिण रो ावे ॥ च० ॥ २ ॥

भावार्थः—कोई दयावान् पुरुष अपने हृदय मे दया ाकर अग्नि मे जलते ए प्राणी की रक्षा करता है, उस दयावान्

को द्रव्य दया और भाव-दया दोनों का लाभ होता है। इसका खुलासा आगे किया जाता है ॥२॥

द्रव्ये तो उणरा प्राण री रक्षा,
भावे खोटा ध्यान घटाया।
यह उपकार इण भव पर भव रो,
विवेक विकल यों भेद न पाया ॥ च० ॥ ३ ॥

द्रव्य आग से बलता राख्या,
भाव आग तिण री टल जावे।
आरत रुद्र ध्यान घट्यां सूं,
शान्ति भाव तिण रे मन आवे ॥ च० ॥ ४ ॥

भावार्थः—लाय (अग्नि) मे जलते हुए प्राणी की रक्षा करने से द्रव्य लाय से वह बच गया और उसके प्राणो की रक्षा हो गई, यह तो द्रव्य दया हुई। लाय मे जलने से उसके मन मे आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा होता वह आर्त्त-रौद्र ध्यान उसका टल गया और उसके हृदय मे शान्तिभाव उत्पन्न हो गये, यह भाव-दया हुई। इस तरह लाय से जलते हुए प्राणी की रक्षा करने से इहलौकिक और पारलौकिक दोनो उपकार होते है। अज्ञानी लोग इस रहस्य को नही समझते है। अतएव लाय से बचाने मे वे एकान्त पाप कहते है ॥३-४॥

समदृष्टि शुद्ध ज्ञान से जाणे,
लाय बले खोटा ध्यान ते ध्यावे

ते थी अनुकम्प ाय चावे,
मकि लक्ष ज्ञानी ब ावे ॥ च० ॥ ५ ॥

भावदया तिण रे द्ध भावे,
द्रव्य दया थी भाव ते ावे।
ते थी अनु म्पा जीव बचायां,
पड़त संसार सूत्र ावे ॥ च० ॥ ६ ॥

भावार्थः—समदृष्टि पुरुष इस बात को जानता है कि जो प्राणी लाय में जलता है वह आर्त्त-रौद्र ध्यान ध्याता है। इसलिए वह अपने हृदय में अ कम्पा लाकर उस प्राणी की प्राण-रक्षा करता है। इस प्रकार प्राण-रक्षा करना द्रव्य-दया है और उसके हृदय मे अनुकम्पा के जो पैदा होते हैं वह भाव-दया है। सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आरि क्य ये पाँच समकित के लक्षण बताये गये है। अतः अनुकम्पा करने वाला पुरुष समकित गुण को प्राप्त करता है और संसार परित्त (परिमित) करता है ऐसा शास्त्रों मे बतलाया गया है ॥५–६॥

केइ एक जी , ीवाँ ने चायां,
ाधौ समी गुण पावे।
पड़त ार करे तिण व र,
भयदान देवे शुद्ध भावे ॥ च० ॥ ७ ॥

भावार्थः—प्राणियों की प्राणरक्षा करने से कितनेक जीव उस समकित गुण की प्राप्ति करते हैं जिसकी आज तक उस जीव

को प्राप्ति न हुई थी और उसी समय वह प्राण-रक्षा कर अभय-दान का दाता पुरुष संसार परिमित करता है ॥७॥

दव बलता जीव शरणे आया,
हाथी अनुकम्पा दिल लायो ।
संसार पड़त अरु समकित पायो,
ज्ञाता सूत्र में पाठ बतायो ॥ च० ॥ ८ ॥

भावार्थः—ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन मे मेघकुमार का वर्णन आता है। जब मेघकुमार का जीव हाथी के भव मे था उस समय जगल मे आग लग जाने से बहुत से प्राणी भाग कर उसके बनाये हुए मांडले मे आये थे। हाथी ने उन पर अनुकम्पा की थी जिससे उसे समकित गुण की प्राप्ति हुई और उसने ससार परिमित किया। यह अनुकम्पा का फल है ॥८॥

शून्य चित्त सूत्र बांचे मिथ्याती,
द्रव्य भाव रो नाहीं निवेरो ।
दयाहीन कुपन्थ चलायो,
त्यां कुगति सन्मुख दियो डेरो ॥ च० ॥ ६ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्वी लोग शून्यचित्त से सूत्रो का वाचन करते है अतएव द्रव्य और भाव के रहस्य को ही वे नहीं समझते है और इसीलिए अनुकम्पा रूप परमधर्म को पाप बताते हैं, दया-हीन निर्दयी लोगो ने यह कुपन्थ चलाया है। समझना चाहिए उन्होने सुगति से मुँह मोड़ कर दुर्गति की ओर प्रयाण प्रारम्भ कर दिया है ॥६॥

स्वारथ त्यागी पर उपकारी,
दुखी दर्दी रो दर्द मिटावे।
ते पिण ध्या मिटावण,
तिण में पाप मिथ्या ी ब ावे ॥ च० ॥ १० ॥

भावार्थः—कोई स्वार्थत्यागी (निःस्वार्थी) परोपकारी पुरुष किसी दुःखी दर्दी प्राणी पर अनुकम्पा लाकर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने के लिए उसके दुः दर्द को मिटाता है। इस परोपकार के कार्य में जो पाप बताता है वह मिथ्यात्वी है ॥१०॥

(कहे) " ा गृहस ौषध देने,
दु ारत तिण रो मिटावे।
तेथी म्हें गृहस्थ ने केवाँ,
साधु करे ते पाप में ावे" ॥ च० ॥ ११ ॥

भावार्थः—वे तेरहपन्थी लोग कहते हैं कि साधु दुःखी दर्दी गृहस्थ को देख कर उसे औषधि देकर उसके दुःख दर्द को नहीं मिटाते हैं। यदि दुःख दर्द मिटाना धर्म होता तो साधु गृहस्थ को औषधि देकर उसके दुख दर्द क्यों नहीं मिटाता। इस लिए हम लोगो ने यह स्थापना की है कि जो कार्य साधु नहीं करते वह कार्य पाप का है ॥११॥

(त्तर) चौमासे उत्पत्ति जीवों री जाणी,
ा गाम विहार रणो।
त्रिविधे साधु त्याग ज कीधा,
सू में साधु ने बतायो निरणो ॥ ० ॥ १२ ॥

साधु न करे ते पाप में गावो,
तो चोमासे साधु ने आणो न जाणो।
गेही चौमासा में वन्दन जावे,
तिण में एकान्त पाप बताणो ॥ च० ॥ १३ ॥

भावार्थ:—तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि चतुर्मास मे अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है अतः साधु को ग्रामानुग्राम विहार न करना चाहिए। इसलिए साधु चतुर्मास मे विहार करने का तीन करण तीन योग से त्याग कर देता है।

अब उन (तेरहपन्थी) लोगों से पूछना चाहिए कि— आप लोगो ने यह स्थापना की थी कि जो कार्य साधु नही करता वह एकान्त पाप है तो चतुर्मास मे साधु एक गॉव से दूसरे गॉंव आना जाना नही करता किन्तु तुम्हारे भक्त श्रावक चतुर्मास मे तुम्हारे (तेरहपन्थी साधुओ के) दर्शन के लिए आते जाते है तो उनके साधु-दर्शन को एकान्त पाप मे क्यो नहीं कहते ? तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तो उनके वन्दन, दर्शन को एकान्त पाप में कहना चाहिए ॥१२-१३॥

वन्दण का तो वन्धा करावे,
चौमासे सेवा रा भाव चढ़ावे।
पन्थी पन्थ वधावण कारण,
धर्म कही कही ने ललचावे ॥ च० ॥ १४ ॥

भावार्थ:—वे लोग उनके वन्दन और दर्शन को पाप मे नहीं कहते किन्तु अपने पन्थ को वढ़ाने के लिए वन्दन और दर्शन

को धर्म में कह कर चतुर्मास में दर्शन करने और सेवा करने ा अपने भक्त श्रावकों को नियम करवाते हैं ॥१४॥

जो ाधु करे में वे,
ो गृहस्थ ने पाप थें क्यों बतावो ।
चौमासे दर्श थें जाणो,
इणविध त्याग क्यों न राो ॥ च० ॥ १५ ॥

भावार्थः—उनसे पूछना चाहिए कि, तुमने यह स्थापना की थी कि 'जो कार्य साधु नहीं करता है वह पाप मे है, गृहस्थ को भी वह कार्य न करना चाहिए' तो म्हारे भक्त श्रावक चतुर्मास मे तुम्हारे दर्शन के लिए आते हैं उसमे पाप क्यो नहीं कहते ? और चतुर्मास मे कहीं भी दर्शन के लिए न जाना इस प्रकार उन्हें नियम क्यों नहीं करवाते ? ॥१५॥

राते ब ा ाव ाजे,
आंतरो पाडण त्याग राो ।
र्पते पाणी वह वा ने ावे,
ति वा में धर्म बतावो ॥ च० ॥ १६ ॥

गेही रो आ ो जा ो वज,
त्रिविध त्रिविध भलो नहीं जाणो ।
ो ब ा ादि ने पाप में केणा,
आया बिना ि सुणो बखाणो ॥ च० ॥ १७ ॥

जो बखाणादिक सुणवा में धर्म है,
आवा जावा रो साधु न केवे।
तो आरत ध्यान मेटण में धर्म है,
औषधादिक साधु नहीं देवे ॥ च० ॥ १८ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधु रात्रि में व्याख्यान वांचते हैं। उस व्याख्यान को सुनने के लिए वे अपने भक्त श्रावकों को ऐसा नियम करवाते है कि "अन्तर डाले बिना अर्थात् किसी भी दिन अनुपस्थित न रहते हुए सदा उनका रात्रि व्याख्यान सुनना चाहिए" उस नियम से बंधे हुए उनके भक्त श्रावक वर्षा बरस रही हो उसमें भी वे व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं। उनके आने जाने की क्रिया को वे पाप मे गिनते है और यहाँ तक कि तीन करण तीन योग से उसका अनुमोदन नहीं करते है। आने जाने की क्रिया किये बिना वे उनका व्याख्यान सुन नहीं सकते। अतः उनके व्याख्यान श्रवण को पाप मे कहना चाहिए।

इस पर यदि वे (तेरह पन्थी साधु) यह कहे कि—उनके आने जाने की क्रिया तो पाप मे है और उस आने जाने की क्रिया के लिए हम (साधु) नहीं कहते है किन्तु उनका व्याख्यान-श्रवण तो धर्म मे है तो उन लोगो से कहना चाहिए कि सरल बुद्धि से अनुकम्पा के विषय मे भी तुम्हे यही बात माननी चाहिए कि दुःख दर्द से पीड़ित होकर आर्त्त रौद्र ध्यान करते हुए प्राणी के आर्त्त रौद्र ध्यान को मिटाना धर्म है किन्तु साधु का कल्प न होने से साधु उसे औषधि आदि नही दे सकते है ॥१६-१८॥

वाहण चढ बखाण में आवे,
ओषधादि देई आरत मिटावे।

दो ां कारज सरी ा जाणो,
शुद्ध भावों रो वे हु फल पावे ॥ च० ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार घोड़ा गाड़ी आदि सवारी पर चढ़ कर गृहस्थ साधु का व्याख्यान सुनने के लिए आता है तो उसके आने जाने की ि या तो धर्म मे नहीं है किन्तु व्याख्यान श्रवण रूप शुद्ध भाव धर्म मे है उसी प्रकार दुःख दर्द से आर्त्त-रौद्र ध्यान करते हुए प्राणी पर अनुकम्पा कर औषधादि देकर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान को मिटाने रूप शुद्ध भाव धर्म मे हैं। ये दोनो कार्य एक सरीखे है। इन दोनो मे होने वाले शुद्ध भाव धर्म मे है ॥१६॥

एक में भाव रो धर्म बतावे,
बीजा में पाप री बोले वाणी।
भोलां ने भ्रम मे पाड़ बिगोया,
ते पिण ूबे , कर कर ताणी ॥ च० ॥ २० ॥

भावार्थः—पहले कार्य मे अर्थात् व्याख्यान सुनने के कार्य मे उसके भावो का धर्म बताना और दूसरे कार्य में अर्थात् अनुकम्पा के कार्य मे उसके भावो मे पाप बताना मत पक्षान्धता है। मत पक्ष का दुराग्रह करके आप स्वयं संसार समुद्र मे डूबते हैं और भोले लोगो को भ्रम मे डाल कर उन्हे भी संसार सागर मे डुबाते है ॥२०॥

(हे) "उपदेश देइ म्हें हिंसा छुड़ावां,
आहार छोड़ी उपदेश ने जा ां।

कोस आंतरे हिंसा छूटे तो,
आलस छोड म्हे तुर्त ही धावां" ॥ च० ॥ २१ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते है कि हम उपदेश देकर हिंसक की हिंसा छुड़ाते है। यदि हम आहार कर रहे हों उस समय भी यदि हिंसा छुड़ाने का कार्य आ जाय तो हम आहार छोड़कर हिंसा छुड़ाने के लिए चले जाते हैं और यहाँ तक कि एक कोस की दूरी पर भी हिंसा छूटती हो तो हम आलस्य छोड़ कर वहाँ भी तुरन्त चले जाते है ॥२१॥

(उत्तर) धर्मी नाम धरावण काजे,
भोला जाणे दया गुण खाणी ।
हिंसा छुड़ावां मुख से बोले,
पिण काम पड्यां बोले फिरती वाणी ॥ च० ॥ २२ ॥

भावार्थः—धर्मी नाम धराने के लिए तथा भोले लोगों को यह बतलाने के लिए कि 'हम बड़े दयाधर्मी है' वे अपने मुख से कहते है कि हम हिंसा छुड़ाते है किन्तु हिंसा छुड़ाने का कार्य जब सामने आता है तो वे अपने वचन से बदल जाते है और इससे विपरीत कथन करने लग जाते है ॥२२॥

कीडियाँ मा । लट गजायाँ,
गेही रे पग हेटे चींथ्या जावे ।
भेषधारी हे म्हें हिंसा छोड़ावां,
(तो) उपदेश देवा ने क्यों नहीं जावे ॥ च० ॥ २३ ॥

ठोड़ बैठा उपदेश देवे तो,
दस वीस जीवां ने दोरा समझावे ।
उद्यम करे चार महीनों रे माहीं,
तो खों जीवों री हिंसा टलावे ॥ च० ॥ २४ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि 'हम उपदेश द्वारा हिंसा छुड़ाते है' तो उनसे पूछना चाहिए कि—चतुर्मास मे लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि अनेक जीवो की उत्पत्ति हो जाती है और रास्ते मे वे गृहस्थ के पैर नीचे दब कर मारे जाते हैं जिसका पाप गृहस्थ को लगता है तो आप लोग (तेरहपन्थी साधु) गृहस्थ की हिंसा छुड़ाने के लिए क्यो नहीं जाते ? अपने धर्मस्थानक पर बैठ कर उपदेश देने से सारे चतुर्मास मे आप लोग दस वीस व्यक्तियो को भी मुश्किल से समझा पाते होगे किन्तु रास्ते मे गृहस्थो के पैर नीचे दब कर मारे जाने वाले कीड़े-मकोड़ो से लगने वाली हिंसा को छुड़ाने का यदि आप लोग चतुर्मास मे प्रयत्न करें तो सैकड़ों, हजारो ही नहीं बल्कि लाखो जीवो की हिंसा को टला सकते हैं फिर आप लोग ऐसा क्यो नहीं करते ? ॥२३-२४॥

ो घरां अन्तर तपस्या करावण,
लस तज उपदेशण जावे ।
ौ पग गयाँ हिंसा छूटे ,
तो हिंसा छुड़ावण क्यों सिधावे ॥ च० ॥ २५ ॥

भावार्थः—यदि कोई तपस्या करने वाला हो तो वे सौ घरो की दूरी पर जाकर भी तपस्या कराते है। तपस्या कराने के

लिए तो वे इतने दूर भी चले जाते है किन्तु सौ कदम की दूरी पर ही लाखो कीडे-मकोड़ो की हिंसा छूटती हो तो भी वे वहाँ नही जाते है इसका क्या कारण है ? ॥२५॥

दीक्षा ले तो जाणे सौ कोस ऊपर,
भेपधारी भेप पेरावा जावे ।
एक कोस पर हिंसा छूटे छै,
क्रोड़ों री हिंसा क्यों न छुड़ावे ॥ च० ॥ २६ ॥

भावार्थ—यदि तेरहपन्थी साधुओ को यह मालूम हो जाय कि सौ कोस की दूरी पर कोई पुरुप दीक्षा लेने वाला है तो उसे अपने सरीखा साधु का भेप पहनाने के लिए वे सौ कोस भी चले जाते है किन्तु एक कोस की दूरी पर, यहाँ तक कि सौ कदम की दूरी पर ही लाखो करोड़ो कीड़े-मकोड़ो की हिसा छूटती है तो वे वहाँ क्यो नही जाते ? वहाँ जाकर उन लाखो करोड़ो कीड़े-मकोड़ो की हिसा क्यो नही छुड़ाते ? ॥२६॥

जब तो कहे बकरादि पंचेन्द्री,
हिंसक री हिंसा छोड़ावण जावां ।
कीड़ा मकोड़ा तो हणे घणाई,
(त्यां री) हिंसा छोड़ावण कहाँ कहाँ धावां ॥ च० ॥ २७ ॥

कीड़ा मकोड़ादि हिंसक री हिंसा,
छोड़ावा में म्हें धर्म तो जाणां ।

(पि) गले ठिकाने जाय ने हिंसा,
छो ावा रो उद्यम ि म ाणां" ॥ च० ॥ २८ ॥

भावार्थः—इस पर वे लोग (तेरहपन्थी साधु) कहते हैं कि—बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय प्राणी की हिंसा करने वाले हिसक की हिंसा छुड़ाने के लिए तो हम जाते हैं किन्तु कीड़े-मकोड़े आदि तो गृहस्थों के पैरों नीचे दब कर बहुत मारे जाते हैं उन सब की हिंसा छुड़ाने के लिए हम कहाँ कहाँ जावे ? गृहस्थो के पैरो नीचे दब कर मारे जाने वाले कीड़े मकोड़ों के मारे जाने से गृहस्थो को हिंसा लगती है उस हिसा को छुड़ाने मे भी हम धर्म मानते है किन्तु सब जगह जाकर उनकी हिसा छुड़ाई नही जा सकती क्योंकि यह अशक्य है ॥२७-२८॥

तो इम हिज समझो रे भाई,
कीडादि रक्षा धर्म में जाणां ।
मार्गादिक में सगले ठिकाणे,
बचावण रो उद्यम किम ाणां ॥ च० ॥ २९ ॥

हिं ा छुड़ावा गले न जावो,
तिम ही जीव बचावा रो जाणो ।
जीवरक्षा रो द्वेष धरी ने,
मिथ्यामति क्यों ऊंधी ताणो ॥ च० ॥ ३० ॥

ापणा व्रत री रक्षा करे ौर,
पर जीवों रा ाण बचावे ।

हिंसक थी मरता जाणी ने,
उपदेश देई जीव छुड़ावे ॥ च० ॥ ३१ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार वे हिंसा छुडाने के कार्य में धर्म समझते हैं किन्तु अशक्य हिंसा छुडाई नहीं जा सकती उसी प्रकार रक्षा के विषय में भी उन्हें यही बात समझनी चाहिए। कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियों की रक्षा करना धर्म है किन्तु मार्गादि सब स्थानों में कीड़े-मकोड़े आदि प्राणियों की रक्षा का प्रयत्न कैसे किया जा सकता है? जिस प्रकार मार्गादि सब स्थानों पर कीड़े-मकोड़ों की हिंसा छुड़ाना अशक्य है उसी प्रकार मार्गादि सब स्थानों पर लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि की रक्षा भी अशक्य है। अशक्य बात को सामने करके जीवरक्षा में पाप बताना जीवरक्षा के साथ द्वेष करना है।

जो बात शक्य है वही की जा सकती है। इसलिए दया-धर्मी पुरुष अपने व्रत की रक्षा करते हुए उपदेश देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा करते हैं ॥२६–३१॥

हिंसादि अकृत्य करता देखी,
भेषधारी कहे झठ समझावाँ।
गृहस्थ पग हेटे जीव आवे तो,
तिण ने तो कहे म्हें नाय बतावां ॥ च० ॥ ३२ ॥
श्रद्धा ज्याँ री पग पग अटके,
न्याय सुणो ज्ञानी चित लाई।
दोनों पक्ष री सुण ने वातां,
सत्य ग्रहो तो है चतुराई ॥ च० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधु कहते हैं कि यदि हमारे सामने कोई हिंसा आदि पाप कार्य करता हो तो हम तत्क्षण उस हिंसक की हिंसा छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब उनसे यह पूछा जाता है कि आपके सामने आपके किसी श्रावक के पैर के नीचे दब कर कोई जीव मर रहा हो तो उस श्रावक को लगने वाली हिंसा छुड़ाने के लिए आप उस जीव को बताते हैं या नहीं ? तब वे कहते हैं कि 'हम उस जीव को नहीं बताते ।'

जब उनसे यह पूछा जाता है कि 'आप कहते हैं कि हम हिंसक की हिंसा छुड़ा कर हिंसक को हिंसा के पाप से बचाते हैं तब फिर आपके सन्मुख श्रावक के पैर नीचे दब कर मरने वाले जीव को बता कर श्रावक को हिंसा के पाप से क्यों नहीं बचाते ?

इस प्रश्न का वे कुछ भी जवाब नहीं दे सकते। इस प्रकार कदम कदम पर उनकी श्रद्धा अटक जाती है फिर भी वे अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं। जो पुरुष दोनो पक्ष की बातें सुनकर न्याय संगत सत्य बात को ग्रहण करता है वही चतुर एवं बुद्धिमान् है ॥३२–३३॥

बकरा री हिंसा छु ा ाजे,
पापी ने उपदेश दे ा ने जावाँ ।
भोला भरमाव इण विध बोले,
चतुर पूछे ज्वाब न ाँ ॥ च० ॥ ३४ ॥

ाव तले चिड़ियो मरे ",
हिंसा हुवे छै थारे ामे ।

उपदेश देई ने क्यों न छुड़ावो,
श्रावक उपदेश तत्क्षण पामे ॥ च० ॥ ३५ ॥

तब तो कहे म्हें मौनज साधां,
मत मार कह्याँ म्हाँ ने पापज लागे।
ऐं कहता म्हें तो हिंसा छुड़ावाँ,
बोल ने बदल गया क्यों सागे ॥ च० ॥ ३६ ॥

कदी कहे म्हें हिंसा छुड़ावां,
कदी मत मार कह्यां पाप केवे।
देवलध्वज ज्यों फिरे अज्ञानी,
बोल बदल मिथ्या मत सेवे ॥ च० ॥ ३७ ॥

भावार्थः—वे लोग (तेरहपन्थी साधु) कहते हैं कि यदि कोई कसाई बकरे को मार रहा हो तो हम उस कसाई को उपदेश देकर उसका हिंसा का पाप छुड़ा देते है अतः हम दयाधर्मी हैं" किन्तु उनका यह कथन सिर्फ भोले लोगो को भ्रम मे डालने के लिए है। जब चतुर पुरुष उनको इस विषय मे प्रश्न पूछता है तब उन्हे कुछ भी जवाब नहीं आता, वे चुप हो जाते है। उनसे पूछना चाहिए कि—आपके सामने किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर एक चिड़िया का बच्चा मर रहा है जिससे श्रावक को हिंसा का पाप लगता है। आप उस श्रावक को उपदेश देकर अर्थात् उस चिड़िया के बच्चे को बता कर श्रावक का पाप क्यों नही छुड़ाते ? सम्भव है कसाई तो आपके उपदेश को माने या न माने किन्तु श्रावक तो आपका भक्त है। वह तो आपके उपदेश

को मान र तत्क्षण पाप को छोड़ देगा । फिर आप उ का पाप क्यों नहीं छुड़ाते ?

तब हते हैं कि श्रावक के पैर नीचे दब कर चिड़िया ा बच्चा मर रहा हो तो उसे हम नहीं बताते हैं। उस समय तो हम मौन रह जाते हैं क्योंकि 'मत मार' कहने से हमे पाप लगता है।

जरा सोचने की बात है कि अभी तो वे कह रहे थे कि 'हम हिंसक को उपदेश देकर उसका पाप छुड़ा देते हैं' और प्रश्न पूछने पर अब कहते हैं कि 'मत मार' कहने से हमे पाप गता है।' जिस प्रकार देवलध्वज यानी मन्दिर पर रही हुई ध्वजा वायु के झोके से इधर-उधर उड़ती रहती है किन्तु एक जगह स्थिर नही रहती उसी प्रकार वे लोग भी अपने वचन पर स्थिर नहीं रहते। कभी कहते हैं कि 'हम हिंसक की हिंसा छुड़ाने मे धर्म मानते हैं' और कभी कहते हैं कि 'मत मार' कहने मे पाप लगता है।'

इस प्रकार जो अपने वचन पर स्थिर नहीं रहते किन्तु बोल कर बदल जाते हैं वे सत्य भाषी मिथ्यात्वी हैं ॥३४–३७॥

(कहे) हिंसादि कृत्य र ा देखी,
उपदे देई म्हें हिंसा छुड़ावाँ।
कृत्य करता रा पाप मेटण में,
फुर ी राँ म्हें देर ावाँ ॥ च० ॥ ३८ ॥

फोरशंख ज्याँ ब ा थारी,
म पड्यां से झट ट ावो।

※ जो जैसा कहते हैं परन्तु वैसा करते नहीं उन्हे ड फोरशंख कहा जाता है।

गृहस्थी रा पग हेटे जीव मरे जग,
हिंसा छोड़ावण तुम नहीं चावो ॥ च० ॥ ३९ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि "हिंसादि पाप का कार्य करते देख कर हम उपदेश द्वारा उस हिंसक के पाप को छुड़ाते हैं। हिंसक के हिंसादि पाप छुड़ाने मे हम किञ्चिन्मात्र भी देर नहीं करते है किन्तु तत्काल हम उसका पाप छुड़ाते हैं।"

उन लोगो का यह उपरोक्त कथन डफोरशंख के समान निरर्थक है क्योकि जब हिंसा छुड़ाने का काम पड़ता है तब वे अपने वचन का पालन नही करते। उनके सामने किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर कोई जीव मर रहा हो तो वे उस जीव को बता कर उसकी हिंसा नही छुड़ाते हैं ॥३८-३९॥

तेल ढुलण दृष्टान्त रे न्याय,
पगतल जीव बतावणो खोटो।
ते दृष्टान्त थी थारी श्रद्धा में,
हिंसा छुड़ावण में होसी तोटो ॥ च० ॥ ४० ॥

भावार्थः—उन लोगो ने तेल गिरने का एक दृष्टान्त दिया है। उस दृष्टान्त के अनुसार यदि श्रावक के पैर नीचे दब कर मारे जाने वाले जीव को बताने मे पाप माना जायगा तब तो 'हिंसक की हिंसा छुड़ाने मे' भी उन लोगो को पाप मानना पड़ेगा ॥४०॥

युक्ति पे युक्ति सुणो चित्त लाई,
जीव बचावणो धर्म रे मांई।

जो जी बचावा में पाप बतावे,
वां ने उत्तर दो समझाई ॥ ० ॥ १ ॥

भावार्थः—प्राणियों की प्राण रक्षा करने में पाप ब ने वाले लोगो ने तेल गिरने की जो युक्ति दी है ब उ का उत्तर दिया जाता है जिससे जीवरक्षा धर्म का का है यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ॥४१॥

गृहस्थ रे घर ाधु गोचरी पहुँच्या,
गृहस्थ ने कृत्य करतो देखे।
तेल घड़ा ने फोरे ढोरे,
कीडि ों रा दर मांही जावे विशेखे ॥ च० ॥ २ ॥

* जैसा कि वे कहते हैं:—

गृहस्थ रे तेल जाय मूण फुट्यॉ,
कीड़ियों रा दर मांही रेला आवे।
बीच मे जीव आवे तेल सूँ बहता,
तेल बह्यो बह्यो अग्नि में जावे ॥
वेशधारी भूलां रो निर्णय कीजे ॥ १८ ॥
जो अग्नि उठे तो लाय गे छै,
त्रस थावर जीव मारया जावे।
गृहस्थ रा पग हेठे जीव बतावे,
तो तेल ढुले ते वासण क्यों न बतावे ॥ १९ ॥
पग सूँ मरता जीव बतावे,
तेल सूँ मरता जीव नहीं बतावे।
यह खोटी श्रद्धा उघाड़ी दीसे,
पण अभ्यतर अंधारो नजर न आवे ॥ २० ॥
(अनुकम्पा ढ ४] १८-२०)

जीव आवे ते तेल से बहता,
तेल बह्यो अग्नि में जावे ।
जो अग्नि उठे तो लाय लागे छै,
गृहस्थ ने अनरथ रो पाप थावे ॥ च० ॥ ४३ ॥

तिण ने वर्ज ने पाप छुड़ावो,
अनरथ होता ने अटकावो ।
जो तिण ने तुमें वर्जो नहीं तो,
हिंसा छुड़ावा यूँ झूठ सुणावो ॥ च० ॥ ४४ ॥

हिंसा छुड़ावां यूं मुख से बोले,
तेल सूं होती हिंसा न छुड़ावे ।
यह खोटी श्रद्धा उघाड़ी दीसे,
अन्तर अंधारो नजर न आवे ॥ च० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—उन लोगो ने तेल गिरने की जो युक्ति दी है उसका खण्डन करने के लिये एक वैसी ही युक्ति उनके लिए दी जाती है। मान लीजिये जब वे (तेरहपन्थी साधु) किसी गृहस्थ के घर गोचरी लेने के लिए गये। वहाँ क्या देखते है कि एक गृहस्थ तेल के घड़े को फोड़ रहा है जिसमे से तेल निकल कर बहुत से छोटे जीवो को बहाता हुआ एवं कीड़ियो के बिल में पहुँचता हुआ आगे अग्नि की तरफ जा रहा है। यदि अग्नि जल कर लाय लग जाय तो महान् अनर्थ हो जाय। उस समय वे उसे घड़ा फोड़ने से क्यों नही रोकते ? वे अपने मुख से कहते तो हैं

वि ' हिसक की हिंसा छुडाते हैं" किन्तु वे अपने सामने तेल से होने वाली हिसा को नहीं छुड़ाते हैं ! अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी ा ोटी है, व जैसा कहते है वैसा करते नहीं है ॥४२-४५॥

(कहे) "पग से र ा ीव तुमें बतावो,
तेल से मरता तो थें न बतावो" ।
(उत्तर) खोटा ोलो न रे मते थें,
म्हारे तेल ों रो सरीखो दावो ॥ च० ॥ ४६ ॥

से मरता ने तेल से मरता,
ि जीवां री रक्षा में धर्म बतावे ।
म्हारी ो श्रद्धा कठेई अटके,
तो अणहूंता त पर ते लं चढावे ॥ च० ॥ ४७ ॥

कठे कहे "हिं ने समझावाँ",
तेल थी हिंसा करता वर ो ।
लि तुमारा हे रा उत्तर,
देऊं से सुणने रीस म करजो ॥ च० ॥ ४८ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी लोग, जीवरक्षा मे धर्म मानने वाले मुनियों से पूछते है कि "आप गृहस्थ के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करते हो तो फिर तेल से मरते हुए जीवो की रक्षा क्यो नहीं करते ?"

इस पर दयाधर्मी मुनि उत्तर देते हैं कि "उन लोगों ने यह प्रश्न अपने मन से ही झूठमूठ खड़ा किया है। हम लोग तो मरते हुए जीवों की रक्षा करने मे सदा सर्वत्र धर्म मानते हैं। इसीलिए जिस प्रकार गृहस्थ के पैर से दब कर मरने वाले जीव को बता कर उसकी प्राणरक्षा करते है उसी प्रकार तेल से मरते हुए जीवो की रक्षा करने में हमे कोई आपत्ति नही है। उन जीवों की प्राणरक्षा करने से भी हम धर्म ही मानते है। इस प्रकार हम दयाधर्मी लोगों की श्रद्धा तो कहीं नही अटकती है किन्तु जीवरक्षा मे पाप बताने वाले लोगों की श्रद्धा पग पग पर अटकती है। वे लोग कहते हैं कि "हम हिंसक की हिंसा छुड़ाते हैं" किन्तु तेल द्वारा हिंसा करने वाले हिंसक की हिंसा नहीं छुड़ाते है। उन लोगों के कथन का कोई ठिकाना नहीं है। वे अपने वचन पर स्थिर नही रहते हैं। भीषणजी द्वारा चलाये हुए इस तेरहपन्थ मत के सिवाय संसार मे ऐसा कोई पन्थ नही है जो जीवरक्षा मे पाप मानता हो। सिर्फ यह तेरहपन्थ मत ही जीवरक्षा मे पाप मानता है। इसकी यह मान्यता संसार के सर्व धर्मों से विपरीत है। इस लिए ये लोग चर्चा में अपनी मान्यता पर स्थिर नहीं रह सकते। ये अपने कथन को बारबार पलटते रहते है फिर भी ये अपने दुराग्रह को नही छोड़ते हैं ॥४६-४८॥

(कहे) * श्रावक रा पग तल अटवी में,
जीव मरे त्यां ने क्यों न बचावो।

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

एक पग हेटे जीव बतावे,
त्यां में थोड़ा सा जीवां ने बचता जाणी।
श्रावकां ने उजाड़ सुमारग घाल्यां,
घणा जीव बचे त्रस थावर प्राणी ॥ मे० ॥ २४ ॥

(उत्तर) पिण म्हें तो जीव बतावाँ,
झूठी वातां क्यों थे ग्रो ॥ च० ॥ ४९ ॥

थारा हेतु थी थारी श्रद्धा में,
दूषण आवे विचारी दे शो।
मिथ्या ान मिटावण काजे,
हे रो ा लेखो ॥ च० ॥ ५० ॥

भावार्थः—वे (तेरहपन्थी) लोग दयाधर्मी मुनियों से पूछते हैं कि—"तुम अपने सामने श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते ए जीव को बताते हो तो जंगल मे जाते हुए श्रावको के पैर नीचे दब कर मरने वाले जीवो को बता कर उनकी रक्षा क्यो नहीं करते?

इस पर दयाधर्मी मुनि कहते हैं कि "तुमने यह प्रश्न ही मिथ्या उठाया है क्योंकि हम लोग जीवरक्षा मे धर्म मानते हैं इसलिए द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार जहाँ कहीं भी शक्य हो जीवों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। अतः जंगल में भी यथाशक्य जीवो की रक्षा करने मे हमे कोई ापत्ति नहीं है। इसलिए तुम्हारा यह प्रश्न करना ही व्यर्थ है। तुम लोगो ने जो हेतु देकर प्रश्न किया है उस हेतु से तुम्हारी श्रद्धा मे ही दूषण आता है। सो अब आगे बताया जाता है ॥४९-५०॥

थोड़ी दूर बतायां थोडो हुवे तो,
घणी दूर बतायां घणो धर्म जाणो।
घणी दूर रो नाम लियां बक उठे,
ते खोटी श्रद्धा रो अहिनाणो ॥ मे० ॥ २५ ॥
(अनु ११ ढाल ४ गाथा २४-२५)

करता विहार मारग में थारा,
श्राव मा मिलवा आवे।
मार्ग छोड़ी ने उजड़ जावे,
त्र थावर री हिंसा थावे ॥ च० ॥ ५१ ॥

श्राव ने उ पन्थ जाताँ,
त्रस थावर हिं करता देखे।
हिंसा छुड़ावा में धर्म थें मानो,
तो श्राव ने वर्जणो इ लेखे ॥ च० ॥ ५२ ॥

हिं ा छुडावणो से बोले,
थोथा बादल जि ते गाजे।
श्राव व में जीव ने चींथे,
मौन जे वर्जता क्यों लाजे ॥ च० ॥ ५३ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधुओ से पूछना चाहिए कि—मान लीजिये, आप लोग विहार कर जा रहे हो। जाते जाते किसी वन से पहुँचे वहाँ आपके बहुत से भक्त श्रावक रास्ता भूल कर उल्ट रास्ते जा रहे थे और उनके पैरों नीचे दब कर त्रस स्थावर (लट, गजाई, कीड़े, मकोड़े तथा हरी वनस्पति) जीव मर रहे थे जिससे उनकी हिंसा का पाप श्रावको को लगता था। हिंसा का पाप छुड़ाने मे तुम लोग धर्म मानते हो फिर तुम उन अपने श्रावको को उल्ट (उजड़) रास्ते जाने से क्यो नही रोकते? उन्हे ठीक रास्ता क्यो नहीं बताते? और उनकी हिसा क्यों नहीं

छुड़ाते ? उस समय मौन क्यो रहते हो ? जिस प्रकार थोथा बादल-गर्जता है किन्तु बरसता नहीं, उसी प्रकार तुम लोग भी कहते हो कि "हिंसा छुड़ाने मे हम धर्म मानते हैं" किन्तु तुम अपने इस कथन का पालन नहीं करते। तुम्हारा कथन केवल लोगो को दि ाने के लिए है किन्तु पालन करने के लिए नहीं। जो लोग केवल कहते हैं किन्तु अपने कथनानुसार आचरण नहीं करते वे ढपोरशं हैं, ढोंगी हैं, लोगो को धोखा देने वाले है ॥५१–५३॥

कहो बकरा ता ने ाँ,
भे निश्च नहीं जाणी।
श्राव ने में हिं थी जें,
जहाँ छूटे हिं ा त्र था र ा ी ॥ च० ॥ ५४ ॥

ाई के ा ाने ाने,
ाव तो थारा अनुरागी।
जो थें व ों हिंसा नही होवे,
हीं वर्जो थांरी श्रद्धा भागी ॥ च० ॥ ५५ ॥

हिं ा छो ाव ो ो थे मानो,
ध रो यूं से ो।
श्रा री हिं ा छुड़ायां,
धर्म वा रो क्यों हीं ा ो ॥ च० ॥ ५६ ॥

भावार्थ:—वे (तेरहपन्थी साधु) लोग कहते हैं कि—"यदि कोई कसाई बकरे को मार रहा हो तो हम उस कसाई को उपदेश देकर उसकी हिंसा छुड़ा देते है" तो उन लोगो से पूछना चाहिए कि सम्भव है कसाई तो तुम्हारा उपदेश माने या न भी माने किन्तु तुम्हारे श्रावक तो तुम्हारे भक्त है वे तो तुम्हारा उपदेश अवश्य मानेंगे तो फिर वन मे उल्ट मार्ग जाते हुए अपने भक्त श्रावको के पैरो नीचे दब कर मरने वाले त्रस स्थावर जीवो की हिंसा को तुम क्यो नहीं छुड़ाते हो ? "हिंसा छुड़ाने मे धर्म है" ऐसा तुम स्वयं अपने मुख से कहते हो फिर तुम्हारे श्रावकों के पैरो से दब कर मरने वाले जीवो की हिंसा छुड़ाने मे तुम धर्म क्यो नहीं मानते हो ? ॥५४-५६॥

* दो पग (हिंसा) छोड़ायां थोड़ो धरम हुवे,
घणा पग छुड़ायां घणो धर्म जाणो ।
घणा पगों रो नाम लिया ब उठे,
तो खोटी श्रद्धा रो अहि नाणो ॥ च० ॥ ५७ ॥

भावार्थ:—दो चार कदम तक यानी थोड़ी दूर तक अपने भक्त श्रावको के पैरो नीचे दब कर मरने वाले जीवो की हिंसा छुड़ाने मे थोडा धर्म होता है तो जंगल मे बहुत दूर तक उनके

* जैसा कि वे कहते हैं —

थोडी दूर बताया थोडो धर्म हुवे,
तो घणी दूर बताया घणो धर्म जाणो ।
घणी दूर रो नाम लिया बक उठे,
तो खोटी श्रद्धा रो अहि नाणो ॥ भे० ॥ २५ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २५)

पैरो से होने वाली हिंसा छुड़ाने में ब त धर्म होगा। इसलिए उन लोगो को (तेरहपन्थी साधुओं को) बहुत दूर तक हिंसा छुड़ा कर बहुत धर्म लाभ प्राप्त करना चाहिए किन्तु बहुत दूर का नाम सुनकर जो लोग झल्ला उठे और बकवाद करने लगे तो समझना चाहिए कि उनकी श्रद्धा खोटी है, यही खोटी श्रद्धा की पहचान है। जब वे हिंसा छुड़ाने मे धर्म मानते है तब वे जंगल मे बहुत दूर तक अपने भक्त श्रावको के पैरों नीचे दब कर मरने वाले त्रस स्थावर जीवो की हिंसा को वे क्यो नही छुड़ाते है ? ॥५७॥

* अन्धा पुरुष रो हे देने,
जीव बतावा में पाप ब ावे।
तो तेहिज हेतु थी हिंसा छुडावा में,
ते नी श्रद्धा में दूषण ावे ॥ च० ॥ ५८ ॥

भावार्थ:—श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने मे पाप बतलाने के लिए तेरहपंथी

---

* जैसा कि वे कहते है.—

कोई अन्धा पुरुष गामान्तर जातां,
आंख बिना जीव किण विध जोवे।
कीड़ी माखादिक चीथतो जावे,
त्रस थावर जीवा रा घमसाण होवे ॥ मे० ॥ २६ ॥
वेषधारी सहजे साथे ही जाता,
अंधा रा पग सूं मरता जीवों ने देखे।
यह पग पग जीवों ने नहीं बतावे,
तो खोटी श्रद्धा जाणज्यो इण लेखे ॥ मे० ॥ २७ ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २६–२७)

लोगों ने एक अन्धे पुरुष का दृष्टान्त दिया है किन्तु इस दृष्टान्त से जीवरक्षा करने मे तो पाप सिद्ध नहीं होता प्रत्युत "हिंसा छुड़ाने से धर्म होता है" उनकी इस मान्यता में दूषण आता है। वह दूषण किस तरह आता है सो अब आगे बताया जाता है ॥५८॥

कोई अन्धा पुरुष गामान्तर जातां,
आंख बिना हिंसा किम टाले।
कीड़ी मकोड़ा मारता जावे,
त्रस थावर जीवों पर पग देई चाले ॥च०॥ ५६ ॥

थें पिण सहजे साथे ही जाओ,
अन्धा ने हिंसा करता देखो।
पग पग हिंसा थें न छुड़ावो,
खोटा बोलण रो तुम लेखो ॥ च० ॥ ६० ॥

(त्यां अंधा ने) जताय जताय ने हिंसा छुड़ाणी,
पापबन्ध थी करणा दूरा।
इण कार्य ि या थी पोते जो लाजे,
तो जीव बतावा में दोष दे कूरा ॥ च० ॥ ६१ ॥

भावार्थः—मान लीजिये एक अन्धा पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहा है। संयोगवश तुम (तेरहपन्थी साधु) भी उस गाँव से विहार कर अगले गाँव को जा रहे हो। तुम्हारा और अन्धे पुरुष का साथ हो गया। अन्धा पुरुष आँखो के विना

देख नहीं सकता। उसके पैरों के नीचे दब कर लट, गजाई, कीड़े-मकोड़े आदि त्रस प्राणी तथा हरी वनस्पति आदि स्थावर प्राणी मरते हैं जिनकी हिंसा उस अन्धे पुरुष को लगती है। तुम लोग हिंसा छुड़ाने मे धर्म मानते हो फिर उस अन्धे पुरुष को बारबार जता कर उसकी हिंसा क्यो नहीं छुड़ाते ? यदि तुम यह कहो कि यह कार्य करना हमारे लिए अशक्य है तो फिर जीवरक्षा मे पाप बतलाने के लिए यह दृष्टान्त कैसे देते हो ? जो कार्य तुम स्वयं नहीं कर सकते उसका दृष्टान्त दूसरों के लिए क्यो देते हो ? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवरक्षा के साथ तुम्हारा द्वेष है। इसीलिए ऐसे अशक्य दृष्टान्त देकर भोले लोगो को भ्रम में डालते हो किन्तु जो पुरुष चतुर होते है वे तुम्हारे जाल मे नहीं फँसते प्रत्युत वह जाल तुम्हारे लिए ही जाल हो जाता है जिसमे फँस कर तुम्हे निरुत्तर होना पड़ता है ॥५९-६१॥

* आटा री ईल्यों रो ना लेई ने,
जीव बचावा में दूषण केवे ।

---

* जैसा कि वे कहते हैं.—

ईल्या सुलसुलिया सहित आटो छै,
गृहस्थ सूं ढुले मार्ग मायो ।
यह तपती रेत उनाले री तिण में,
पडत प्रमाण होत जुदा जीव काया ॥ २९ ॥
गृहस्थ नही देखे आटो ढूलतो,
ते वेषधारियों री नजरां आवे ।
यह पग हेटे जीव बतावे अज्ञानी,
तो आटो ढूलता जीव क्यूं नहीं बतावे ॥ ३० ॥
(अनुकम्पा ढाल ४ गाथा २९-३०)

तेहिज हेतु थी त्याँरी श्रद्धा में,
हिंसा छुड़ायां में दूषण रेवे ॥ च० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने मे पाप बताने के लिए तेरहपन्थी लोगो ने ईली आदि जीवो वाले आटे के गिरने का दृष्टान्त दिया है किन्तु इस दृष्टान्त से जीवरक्षा मे तो पाप सिद्ध नही होता प्रत्युत "हिंसा छुडाने मे धर्म होता है" उनकी इस मान्यता में दूषण आता है। वह दूषण किस प्रकार आता है सो अब आगे बताया जाता है ॥६२॥

ईल्यांदि जीवां हित आटो ,
गृहस्थ ढोले छै मारग मायो ।
तपती रेत उनाला री तिण में,
पड़त मरे हिंसा बहु थायो ॥ च० ॥ ६३ ॥

गृहस्थ रे ज्ञान न पाप लागण रो,
ते कदा थारे समझ में आयो ।
थें हिंसा देखी छोडावणी केवो,
आटो ढुरता हिंसा थीं क्यों मुकावो ॥ च० ॥ ६४ ॥

भावार्थ—किसी गृहस्थ के पास ईल्यां आदि जीवो सहित आटा है। वह उस आटे को ग्रीष्म ऋतु की अत्यन्त तपी हुई बालू रेत मे, मार्ग मे डाल रहा है जिससे उन ईल्याँ आदि जीवों की घात होती है। उस गृहस्थ को उन जीवों की हिंसा के

पाप का ान नहीं है। तुम (तेरहपन्थी साधु) इस ार्य को दे रहे हो। तुम्हारे मतानुसार हिंसा छुड़ाने मे धर्म है फिर उ पुरुष की हिसा ों नहीं छुड़ाते ? और आटा गिराने से उसे क्यों नही रोकते ? ॥६३–६४॥

(कहे) "गृहस्थ री उ धि सूं जीव मरे *,
ब ो बतावा ने क्यों नहीं ावो।
यो त्तर सीधो थारा हेतु रो,
हिंसा छुड़ा ा ने थें क्यों नहीं ाओ ॥ च० ॥ ६५ ॥

किणहि ठौर हिंसा छुड़ावे,
कि हि ठौर म ाणे।
मिथ्या उदय थी म ड़े हीं,
अज्ञानी जन तो ऊंधी ाणे ॥ च० ॥ ६६ ॥

गृहस्थ विवि ार री वस्तु थी,
जीवां री हिंसा ीधी ने रसी।
हिंसा दे ी छोड़ावणी केवे,
तो सगली ठौर छो ी पड़सी ॥ च० ॥ ६७ ॥

---

* जैसा कि वे कहते हैं:—

इत्यादि गृहस्थ रे अनेक उपधि सूं,
त्रस थावर जीव मुवा ने मरसी।
एक पग हेठे जीव बतावे,
त्यां ने सगली ही ठौर बतावणा पड़सी ॥ ३१ ॥
(अनुकम्पा ढ ४ गाथा ३१)

भावार्थः—वे (तेरहपन्थी) लोग दयाधर्मी मुनियों से पूछते हैं कि—गृहस्थो के उपकरणो (साधनो) से भूतकाल में अनेक जीव मरे है और वर्तमान समय मे मर रहे हैं। तुम लोग जीव-रक्षा करने मे धर्म मानते हो फिर सब जगह जीवरक्षा क्यों नहीं करते ?

इस प्रश्न का उत्तर सीधा है। उन लोगों से (तेरहपन्थी साधुओ से) कहना चाहिए कि—तुम लोग हिंसा छुड़ाने मे धर्म मानते हो। गृहस्थो के उपकरणों (साधनो) से गत काल मे हिसा हुई है और वर्तमान काल मे अनेक जीवो की हिंसा हो रही है फिर तुम लोग उनकी हिसा क्यो नही छुड़ाते, इसका क्या कारण है ? जब हिसा छुड़ाने मे धर्म मानते हो तो फिर तुम्हे सब जगह हिसा छुड़ानी चाहिए। सब जगह हिसा क्यो नही छुड़ाते ? ॥६५-६७॥

पग पग ज्बाव अट ता देखो,
तो पिण ोटी रूढ न छोड़े।
मोह मिथ्यात में डूब र छै,
जीव रक्षा रा धर्म ने तोड़े ॥ च० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—इस प्रकार प्रश्न पूछने पर उन्हे कुछ भी जवाब नहीं आता। पग पग पर उन्हे निरुत्तर होना पड़ता है फिर भी वे अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हैं और मिथ्यात्व मे डूब कर जीवरक्षा मे पाप बताते है ॥६८॥

हिंसा छोड़ावणो जीव बचावणो,
दोनों ही ध र्मे जाणो।

सर ज्ञानी ादर ा,
र्म निर्जरा पि ा ाो ।
या श्रद्धा श्री जिनवर भा ी ॥ च० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—हिंसा छुड़ाना और जीवरक्षा करना दोनों ही धर्म के कार्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार ज्ञानी पुरुष इन कार्यों को करते हैं जिससे उनके कर्मनिर्जरा होती है, ऐसा श्री तीर्थ र भगवान् ने फरमाया है ॥६६॥

हिंसा छुड़ा ा में र्म ब ावे,
जीव बचायां में प जो केवे ।
ा बो ॅरी प करी ने,
खोटा हेतु बहु विधि देवे ॥ च० ॥ ० ॥

भावार्थः—जो लोग हिंसा छुड़ाने मे धर्म कहते है किन जीवरक्षा करने मे पाप कहते हैं वे तीर्थङ्कर भगवान् की आ ा के विपरीत अपनी इच्छानुसार मिथ्या बात की स्थापना करके नन्त संसार बढ़ाते है ॥७०॥

(नि) ब ामे हिं ा छुड़ावा जावे,
ब मे जीव बचावा न धावे।
अवसर थी हिंसा छुड़ावे,
व ी बचावा जावे ॥ च० ॥ ७१ ॥

जीव चावणो हिंसा छुड़ावणो,
दो ां रो ए ही मझो लेखो ।

ए में धर्म दूजा में पापो,
इम श्रद्धे ते मिथ्यामति देखो ॥ च० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार मुनि सब जगह हिंसा छुड़ाने के लिए नहीं जा सकता है उसी प्रकार मुनि सब जगह जीवरक्षा करने के लिए भी नही जा सकता है। किन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार मुनि हिंसा छुड़ाता है उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार मुनि जीवरक्षा करता है। हिंसा छुड़ाना और जीवरक्षा करना दोनो कार्य एक समान है। अतः हिंसा छुड़ाने मे धर्म कहना और जीवरक्षा करने मे पाप कहना मिथ्यात्वियों का कार्य है ॥७१-७२॥

गृहस्थी रा पग हेठे ीव आवे तो,
ाधु बतावे तो पाप न चाल्यो।
भेषधारी तिण में पाप बतावे,
परत घोचो गुरां घाल्यो ॥ च० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—"गृहस्थ के पैर नीचे दब कर यदि कोई जीव मरता हो तो उसे बता कर जीवरक्षा करने मे पाप होता है" ऐसा किसी भी शास्त्र मे नहीं कहा है फिर भी साधु नाम धराने वाले भेषधारियो ने इस कार्य मे पाप बता कर भोले लोगो को भ्रम मे डालने की धृष्टता की है। ऐसे कुगुरु मिथ्यात्वी है। वे स्वयं मिथ्यात्व मे डूबे हुए है और दूसरे लोगो को भी मिथ्यात्व में डुबाने की चेष्टा करते है। अतः ऐसे कुगुरु मिथ्यात्वियो का संग छोड़ देना चाहिए ॥७३॥

(कहे) "समवसरण ी ा ने जाता,
केई रा पग से जी मर जाया ।
जो जीव बचायां में धर्म होवे ो,
गवन कठे ही दीसे ाया ॥ च० ॥ ७४ ॥

नन्दन मणिहार डेडको होय ने,
ीर वन्दण जातो मार ंयो ।
तिण ने चींथ रयो श्रे ा बछेरे,
वीर ाधु स ां मेल क्यों न बचायो ॥ च० ॥ ७५ ॥

ते थी जी ब ायां में प ",
एवी कुगुरु कुतर्क उठावे ।
न्याय से उत्तर ज्ञा ी देवे,
चुप होवे ज्वाब न ावे ॥ च० ॥ ६ ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी लोग कहते है कि—भगवान् महावीर ामी के समवसरण मे धर्मोपदेश सुनने के लिए बहुत मनुष्य आते और जाते थे उनके पैरों नीचे दब कर कई जीव मरे होगे किन्तु भगवान् ने उन जीवो की रक्षा की हो ऐसा शा ो मे कहीं भी उल्लेख नही मिलता है पैर के नीचे दब कर मरने वाले जीवों को बता कर उनकी रक्षा करने मे यदि धर्म होता तो भगवान् उन जीवो को अवश्य बचाते ।

शा मे एक उदाहरण आता है कि नन्दन-मनिहार का जीव मर कर जब मेढक हो गया था तब वह मेढक एक समय

भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन करने के लिए जा रहा था। उसी समय घोड़े पर सवार होकर राजा श्रेणिक भी भगवान् के दर्शन करने के लिए जा रहा था। उसके घोड़े का पैर उस मेढक पर पड़ गया और वह मर गया। यदि जीव बचाने मे धर्म होता तो भगवान् अपने साधुओं को वहाँ भेज कर उस मेढक की रक्षा क्यो नहीं करवाते ?

इन कारणों से हम (तेरहपन्थी) कहते हैं कि किसी के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी रक्षा करने में पाप है।"

इस प्रकार वे लोग कुतर्क उठाते हैं किन्तु जब ज्ञानी पुरुष उन्हे उत्तर देते है तो उनकी जबान बन्द हो जाती है। उनके इस कुतर्क का उत्तर आगे दिया जाता है ॥७४–७६॥

जो जीव बचावा साधु न मेल्या,
तिण थी जीव बचायां में पापो।
तो राजगिरी नगरी रे मांही,
हिंसादि मे होता संतापो ॥ च० ॥ ७७ ॥

भगवन्त ते कर्म छोडावा,
साधां ने मेल्या ठेई ने न दीसे।
तो थारे लेखे उपदेश देई ने,
कर्म छुड़ावा में पाप विशेषे ॥ च० ॥ ७८ ॥

जो कुकर्म छुड़ावणो धर्म रे माँही,
(पिण) उपदेश साधु अवसर थी देवे।

तो जीव बचावणो धर्म रे ाँही,

वसर स्था विचारी लेवे ॥ ० ॥ ७६ ॥

भावार्थः—"श्रेणिक राजा के घोड़े के पैर नीचे दब कर मरने वाले मेंढक की रक्षा के लिए भगवान् महावीर स्वामी ने अपने साधुओं को नहीं भेजा था। इसलिए जीवरक्षा पाप है" यदि यह दलील देकर वे लोग जीवरक्षा करने में पाप बताते हैं तो यही दलील हिंसादि कुकर्म छुड़ाने में पाप सिद्ध करने के लिए भी दी जा सकती है, जैसे कि—"राजगृही नगरी में छः गोठीले पुरुषों द्वारा बहुत सा हिंसादि कुकर्म होता था। उस हिंसादि कुकर्म को छुड़ाने के लिए भगवान् ने साधुओं को नहीं भेजा था। इसलिए उपदेश देकर हिंसादि कुकर्म छुड़ाना पाप है।"

इस पर यदि वे लोग यह कहे कि उपदेश द्वारा हिंसादि पाप कर्म छुड़ाना धर्म है किन्तु साधु द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अनुकूलता देख कर उपदेश द्वारा हिसादि कुकर्म छुड़ाते हैं तो उन्हें सरल बुद्धि से यही बात जीवरक्षा के विषय में भी समझनी चाहिए कि 'जीवरक्षा करना धर्म है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर साधु जीवरक्षा के लिए उपदेश देते है और जीवरक्षा करते हैं' ॥७७–७६॥

कोई गृहस्थ उपदेश देई ने,

व ामे जाई महा हिंसा छुड़ावे।

कोई पञ्चेन्द्रिय जीव बचावे,

ये दोनों ही धर्म ो फल पावे ॥ च० ॥ ८० ॥

हिंसा छुड़ायां तो धर्म बतावे,
जीव बचायां पाप जो केवे ।
ऊंधी श्रद्धा या पग प अटके,
ता करी करी दुर्गति लेवे ॥ च० ॥ ८१ ॥

भावार्थ:—कोई श्रावक सब जगह जाकर उपदेश द्वारा महाहिंसादि कुकर्म छुड़ाता है और कोई श्रावक बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय जीवो की रक्षा करता है। ये दोनो धर्म के कार्य हैं। इन दोनो कार्यों को करने वाले वे दोनो श्रावक धर्म फल के भागी होते है।

जो लोग हिंसादि कुकर्म छुड़ाने मे तो धर्म मानते हैं किन्तु जीवरक्षा मे पाप बताते है, उन लोगो की यह श्रद्धा उल्टी (विपरीत) है। इस विषय मे प्रश्न पूछने पर उन्हें निरुत्तर होना पड़ता है फिर भी वे अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते है। इस दुराग्रह के कारण वे नरकादि दुर्गतियो को प्राप्त होते है ॥८०-८१॥

व रो नाम तो अलगो मेली,
साधां रा कर्तव लावे ।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव रे अवसर,
धु कार्य कियां गुण पावे ॥ च० ॥ ८२ ॥

सज्झा, ध्यान, तप, विहार विचरणो,
व्याख्यान व्यावच्च धर्म रो का गो ।
बल बुद्धि और क्षेत्र का रे,
विवेके रे साधु धामो ॥ च० ॥ ८३ ॥

हि वसर ये नाय रे तो,
उभ्का ध्य प में ावे।
बिन अ र जीव नांय छुडायां,
ीव छुडावणो पाप न थावे ॥ च० ॥ ८४ ॥

भावार्थः—उन लोगों को जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए श्रावक का नाम न लेते हुए सिर्फ साधु के कार्यों को सामने लाते हैं। साधु निरारम्भी है उसने महारम्भ और ल्पारम्भ सब प्रकार के आरम्भों का सर्वथा त्याग कर दिया है। वह अपने साधु-जीवन की मर्यादाओ से बंधा हुआ है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर कार्य करता हुआ साधु गुणों को उपार्जन करता है। जैसे कि स्वाध्याय, ध्यान, तप, विहार, व्याख्यान, वैयावच्च आदि धर्म के कार्य हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर अपने बल (शा) और बुद्धि के अनुसार साधु इन कार्यों को करता है किन्तु बिना अवसर सब समय में इन कार्यों को नहीं करता है। जिस प्रकार बिना अवसर स्वाध्याय ध्यान आदि कार्य न करने पर भी ये कार्य पाप में नहीं कहे जाते है उसी प्रकार बिना अवसर जीवरक्षा का कार्य न करने पर भी जीवरक्षा का कार्य पाप मे नही है, यह उन्हें सरल बुद्धि से समझना चाहिए ॥८२–८४॥

कदा केई ए परूपे,
साधु श्राव री अनुकम्पा एको।
धु करे तिम श्राव ने रणी,
पि ा पड़े द फिरता ही देखो ॥ च० ॥ ८५ ॥

धु थी मरता जीव बतावे,
पाप टले कम्पा गावे।
श्राव श्राव थी मरता जीव बतावे,
झट तेने प बतावे ॥ च० ॥ ८६ ॥

श्रावक श्राव ने (मरता) जीव बतावे,
(तो) किसो प लागे, किसो भागे।
तिण रो तो उत्तर मूल आवे,
थोथा गाल बजावा लागे ॥ च० ॥ ८७ ॥

भावार्थः—यदि वे लोग यह कहें कि—"साधु और श्रावक दोनों की अनुकम्पा एक है। जो कार्य साधु करता है वही कार्य श्रावक को करना चाहिए उसी कार्य मे धर्म होता है।" किन्तु ऐसा कथन करने वाले वे लोग स्वयं अपने कथन पर स्थिर नहीं रहते हैं, जैसे कि साधु के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि दूसरा साधु उसे बता दे तो इस कार्य मे वे धर्म बताते हैं। उसी प्रकार किसी श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि दूसरा श्रावक उसे बता दे तो उन्हे इस कार्य मे धर्म मानना चाहिए किन्तु वे लोग इस कार्य मे पाप बताते हैं। साधु के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताने का जो कार्य साधु ने किया वही कार्य अर्थात् श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताने का कार्य श्रावक ने किया है फिर इस कार्य मे वे पाप क्यों बताते है? जिस बात की स्थापना उन्होंने की थी उस बात पर वे स्वयं स्थिर नहीं रहते हैं।

दू री बात उनसे यह पूछनी चाहिए कि श्राव पैर नीचे दब र मरते ए जीव को श्राव ने बतला दिया तो उसने कौन ा पाप किया है ? उसका कौन सा भंग आ है ? ॥८५-८७॥

सिद्धान्त बिना ोले ानी,
संभोग रो अनुकम्पा में ावे ।
गा ं रा गोला से चलावे,
ते न्याय सुणी वियगा चित्त चावे ॥ च० ॥ ८८ ॥

साधु रे ं ोग श्राव से नाहीं,
(ते थी) जी ा ा में ो ।
श्रा साधु ने जी ावे,
तिण में तो तुमें क्यों गावो ॥ च० ॥ ८९ ॥

जद हे म्हारी हिं ा ाई,
ो ा वि यो दाई ।
ाव ने जी बतावे,
ो पि ानो ों भाई ॥ ० ॥ ९० ॥

ा थी मरता जीव बचाया,
थी ा तिम ी बचाया ।
एक ने ने दूजा में पो,
ए ी श्रद्धा में नि ा ॥ च० ॥ ९१ ॥

भावार्थः—अनुकम्पा के विपय में वे लोग संभोग की बात कहते हैं किन्तु उनका यह कथन शास्त्रविरुद्ध होने के कारण ज्ञानी पुरुषो के सामने टिक नहीं सकता। यदि वे यह कहे कि—साधु का श्रावक के साथ संभोग नही है इसलिए श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि साधु बता दे तो साधु को पाप लगता है तो उनसे (तेरहपन्थी साधुओं से) पूछना चाहिए कि—तुम्हारे (तेरहपन्थी साधुओ के) पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि श्रावक बता दे तो उसे (श्रावक को) धर्म होता है या पाप? तब तो वे लोग कहते हैं कि उसे धर्म हुआ क्योंकि उसने हमारे पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताकर हमारी हिंसा टलाई (मिटाई) है अर्थात् हमे लगने वाली हिंसा से हमे बचाया है। तब फिर उनसे पूछना चाहिए कि—श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि दूसरा श्रावक उसे बता दे तो इस कार्य को धर्म मे क्यो नहीं मानते? जिस प्रकार उसने (श्रावक ने) साधु के पैर से मरते हुए जीव को बचाया है उसी प्रकार उसने अपने स्वधर्मी बन्धु श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बचाया है। दोनो कार्य समान है फिर क्या कारण है कि पहले कार्य को धर्म मे और दूसरे को पाप मे कहते हो? या तो इन दोनो कार्यो को समान रूप से धर्म मे मानना चाहिए अन्यथा दोनो को पाप मे मानना चाहिए? एक कार्य को धर्म मे और दूसरे को पाप मे मानना अयुक्त है। शा विरुद्ध प्ररूपणा करने वाले अज्ञानियो की मान्यताओ मे इस तरह की अनेक बाधाएं उपस्थित होती है ॥८८-९१॥

बारा प्रकार रा संभोग भाख्या,
सूत्र समवायांग माईं देखो।

जीव ायां भोग लागे,
इ ो ाहीं सू र में ले ो ॥ च० ॥ ६२ ॥

श्राव श्रावक ने जीव ब ायां,
ाप ागे यो काढ्यो कूरो।
ि लेखे जीवां रा भेद सि ायां,
थाँरी श्रद्धा में पा रो पूरो ॥ च० ॥ ६३ ॥

भावार्थ:—समवायाङ्ग सूत्र के बारहवे समवाय में साधु के बारह संभोग बतलाये गये है। उनमे, "पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताना" ऐसा कोई संभोग नहीं है। अतः श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को यदि साधु बता दे तो उसका कोई संभोग नही टूटता है।

दूसरी बात उन लोगो से यह पूछनी चाहिए कि—श्रावक के कोई संभोग नहीं होता। फिर एक श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता दे तो उसको पाप क्यो बताते हो? उसका तो कोई संभोग नही टूटता, ोकि जब उसके कोई संभोग ही नही है तो टूटेगा क्या?

श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बताने में जो लोग पाप कहते हैं उनकी इस मान्यतानुसार तो श्रावको को जीवो के एकेन्द्रिय बेइन्द्रिय आदि भेद सि लाने मे भी पाप होगा ॥६२-६३॥

(हे) "जीवां रा भेद तो ज्ञा रे ि र,
दया रे ातिर पिण म्हें बतावाँ।

भूत विष्य में जीव बतायां,
धर्म रो म्हें हि मझावाँ ॥ च० ॥ ६४ ॥
वर्तमान (काल) पग हेठे या बतायां,
पाप हुवे म्हारी श्रद्धा रे मांई ।
तो भूल्या रे भूल्या थें मूल से भूल्या,
धर्म तो रणो तिहुँ काल सदाई ॥ च० ॥ ६५ ॥

पाप त्याग अरु धर्म रो उद्यम,
तिहुँ काले किया हुवे सुखदाई ।
भूत भविष्य में धर्म हुवे तो,
वर्तमाने पाप दापि न थाई ॥ च० ॥ ६६ ॥

वर्तमान जीव बतायां पापो,
तो भूत विष्य में पाप संतापो ।
जो परोक्ष बतायां भावी दया रसी,
प्रतख में मिटे प्रत पापो ॥ च० ॥ ६७ ॥

गृहस्थ रा पग हेठे उन्दर बतायां,
परत पाप गृहस्थ रो टलियो ।
उन्दर रे आरत रुद्र रो,
महाक्लेश ट वा रो फल मिलियो ॥ च० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे लोग यह कहे कि "हम (साधु) श्रावकों को जीवों के भेद तो ज्ञान के लिए सिखलाते हैं और दया

के लिए भी सि लाते हैं किन्तु साथ मे यह भी सि लाते हैं कि भूत ाल और भविष्यत्काल में दया करना धर्म है किन्तु वर्त-ानकाल मे दया करना (जीव बचाना) पाप है तो उनका यह थन अज्ञानतापूर्ण है क्योंकि जब भूतकाल और भविष्यत्-काल मे दया करना (जीव बचाना) धर्म है तो वर्तमान काल में दया करना (जीव बचाना) पाप कैसे हो सकता है ? और यदि वे वर्तमानकाल मे जीव बचाना पाप कहते हैं तो फिर भूत-काल और भविष्यत्काल मे जीव बचाना उन्हे पाप मे मानना पड़ेगा। यह कैसे हो सकता है कि भूतकाल और भविष्यत् काल में जीव बचाना धर्म है और वर्तमान काल मे पाप है ? इस प्रकार का कथन करना भारी भूल है। जो पुरुष भविष्यत्काल मे जीव बचाने रूप भावी दया करेगा वह वर्तमान काल मे प्रत्यक्ष जीव बचाने रूप दया का कार्य कैसे नहीं करेगा ? पाप का त्याग और धर्म का कार्य तो तीनों काल में सदा सुखदायी होता है। अतः पाप का त्याग और धर्म का कार्य वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों ाल मे करना चाहिए। जिस प्रकार भविष्यत्काल मे जीव बचाने रूप दया का कार्य करने से उस जीव का भविष्यत्-ाल में पाप-संताप मिटेगा उसी प्रकार वर्तमानकाल मे श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए चूहे आदि जीव को बता कर की प्राणरक्षा करने से उस जीव के आर्त्त-रौद्र ध्यान रूपी महा ेश मिट गया और उसकी हिंसा से श्रावक को लगने वाला पाप टल गया। इस प्रकार उन दोनों (श्रावक और उसके पैर नीचे दब कर मरने वाला जीव) जीवो का पाप संताप मिट गया। यह प्रत्यक्ष धर्म का कार्य है। इसमे पाप कहना अज्ञानता है ॥६४-६८॥

जो बिन संभोगी पाप टालण में,
पाप लागे यूँ थें कदा भाखो।
तो उपदेशे गृहस्थ रा पाप टालण में,
थारी श्रद्धा में पाप ने राखो ॥ च० ॥ ९९ ॥

इण श्रद्धा रो निर्णय न काढे अज्ञानी,
दया मेटण लियो संभोग शरणो।
पाप छुड़ाणो संभोग में नाहीं,
शं । हो तो करो वि निरणो ॥ च० ॥ १०० ॥

नहीं मारण ने जीव बतायाँ,
सं ोग ागे ऐसो बतावे।
तो पाप छुड़ावण परत बतावो,
भागल पणो थारी श्रद्धा में आवे ॥ च० ॥ १०१ ॥

भावार्थः—यदि कदाचित् वे लोग यह कहे कि साधु का श्रावक के साथ संभोग नहीं है। इसलिए श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी प्राणरक्षा करने से साधु को पाप लगता है तो उनसे पूछना चाहिए कि—तुम (साधु) उपदेश देकर श्रावक का पाप छुड़ाते हो उसमे तुम पाप क्यो नहीं मानते? तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तो उपदेश देकर श्रावक का पाप छुड़ाने मे भी तुम्हे पाप मानना पड़ेगा।

जब जीवरक्षा का प्रश्न आता है तब तुम संभोग का नाम लेते हो तो पाप छुड़ाने मे संभोग क्यो नहीं बताते हो? जब श्रावक के पैर नीचे दब-कर मरने वाले जीव को बता कर

उसकी रक्षा करने में संभोग लगता है तो श्रावक का पाप छुड़ाने में संभोग क्यो नहीं लगेगा ? जीवरक्षा मे संभोग बताना और पाप छुड़ाने मे सम्भोग न मानने वालो की श्रद्धा मे भाग पन (त्रुटि) आता है। उन लोगों को जीवरक्षा से द्वेष है इसलिए झूटमूट ही सम्भोग का नाम लेकर वे जीवरक्षा मे पाप बतलाते है। सत्य तत्त्व तो यह है कि श्रावक का पाप छुड़ाना और जीव-रक्षा करना इन दोनो कार्यों का सम्भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जिस प्रकार साधु श्रावक का पाप छुड़ाता है उसी प्रकार साधु श्रावक के पैर नीचे दब कर मरते हुए जीव को बता कर उसकी प्राणरक्षा भी करता है। इन दोनों कार्यों से उसे धर्म होता है, पाप नही ॥९९-१०१॥

लाय लागी गृहस व देखे,
तुर्त बुझावे, रक्षा मन धारी।
इण रक्षा रो । गृहस्थ करे ",
तिण में ए न्त पाप कहे सांगधारी ॥ च० ॥ १०२ ॥

भावार्थः—जब गृहस्थ कहीं लाय लगी हुई देखता है तो मन मे अनुकम्पा लाकर उसे बुझाता है और उसमें जलते ए जीवों की रक्षा करता है किन्तु कितनेक साधु सेष को धारण करने वाले निर्दयी इस रक्षा के कार्य मे पाप बताते हैं ॥१०२॥

(कहे) "लाय में बले ज्याँ रे कर चुके ",
मं छूटण री जरा भारी।
बी पड़ ज्याँ ने कोई काढे,
वह होवे प ो अधि री" ॥ च० ॥ १०३ ॥

भावार्थः—वे निर्दयी लोग कहते हैं कि जो जीव लाय में जलते हैं वे अपने कर्म ऋण को चुकाते हैं और बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करते है। जो बीच मे पड़ कर लाय मे से उन्हें बचाता है वह उनके कर्म ऋण चुकाने मे अन्तराय देता है इसलिए उस रक्षा करने वाले पुरुष को पाप लगता है ॥१०३॥

इम बलताँ रे र्म ता बतावे,
काढणा वाला ने पाप बतावे।
त्याँ री तब परतीती वे,
जो लाय से निसर बाहर जावे ॥ च० ॥ १०४ ॥

भावार्थः—इस प्रकार वे लोग कहते हैं कि 'जो लाय में जलता है वह अपने कर्म काटता है, अपने कर्म ऋण को चुकाता है। जो पुरुष उसे लाय से बाहर निकाल देता है वह उसके कर्म काटने मे अन्तराय डालता है' वे लोग ऐसा कथन करते हैं किन्तु उनके कथन का विश्वास तो तभी आ सकता है जब वे स्वयं लाय मे जल रहे हो और उससे बाहर न निकलें। तब लोगों को यह विश्वास हो सकता है कि लाय मे जलता हुआ जीव कर्मों के ऋण को चुकाता है ॥१०४॥

(कहे) बलताँ परिणाम सेंठा नहीं रेवे,
मर थी दुर्गति जावे।
थिवरकल्पी ने बाहर ि लणो,
उपसर्ग मिट्याँ मन निर्म थावे ॥ च० ॥ १०५ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे (तेरहपन्थी साधु) यह कहें कि लाय (अग्नि) में जलने से अगर हमारे परिणाम दृढ़ न रहें और

ि बिलाहट करते ए मृत्यु हो जाय तो वह का मरण होता है जिससे दुर्गति की प्राप्ति होती है। हम, स्थविरकल्पी साधु हैं, ह .यदि यतनापूर्वक लाय मे से निकल जायँ तो हमे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता अपितु उस उपसर्ग के मिट जाने से चित्त निर्मल बन जाता । इसलिए हम तो अि मे से बाहर निकल जायेंगे। हमें अपने प्राण प्यारे हैं ॥१०५॥

रे म्हें हता । जीवाँ रा,
छूटे निर्जरा बहु थावे।
निज वा री ई जद,
री तुमें ाद आवे ॥ च० ॥ १०६ ॥

जो ाधु नामधारी पि बलतां,
परिणाम विगड्याँ दुर्गति जावे।
तो हस्थी तो वि वि बोले,
ते लाय बल्याँ के चुकावे ॥ च० ॥ १० ॥

भावार्थः—अब उनसे पूछना चाहिए कि तुम कह रहे थे कि लाय मे जलते ए जीव के कर्म कटते हैं, कर्मों की ब त निर्जरा होती है। ब जब तुम्हारे लाय मे जलने का प्रश्न पूछा गया तो तुम अपने लिए बालमरण की बात कहते हो। तुम तो साधु नाम धराते हो जब अग्नि मे जलने से तुम्हारे परिणाम बिगड़ जाते है ौर परिणाम बिगड़ने से तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान करने से नवीन पाप बन्ध हो जाता है तो फिर गृहस्थ आदि दूसरे जीव अग्नि मे जलने से कर्म ऋण चुकाते हैं यह तुम कैसे

कहते हो ? जिस प्रकार तुम्हारे परिणाम बिगड़ जाते हैं और आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा हो जाता है जिससे पाप कर्म का बन्ध होना है उसी प्रकार क्या दूसरे जीवों के परिणाम नहीं बिगड़ते हैं और आर्त्त-रौद्र ध्यान पैदा होकर क्या पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है ? लाय मे जलते हुए प्राणी बिलबिलाहट शब्द करते हुए आर्त्त-रौद्र ध्यान ध्याते हैं और जिससे पाप कर्म का बन्ध करते है अतः "लाय मे जलता हुआ जीव कर्म ऋण चुकाता है" यह तुम्हारा कथन मिथ्या है ॥१०६-१०७॥

ते तो महाआरत रे वश थी,
  ाय बल्याँ संसार बधावे ।
ते अनन्त संसार रा पाप मुकावा,
  दयावन्त त्याँ ने बाहिर लावे ॥ च० ॥ १०८ ॥

भावार्थः—लाय मे जलने वाला प्राणी आर्त्त-रौद्र ध्यान करता हुआ अनन्त संसार बढ़ाता है। उस अनन्त संसार के पाप को छुड़ाने के लिए दयावान् पुरुष उसे लाय से बाहर निकालता है जिससे उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिट जाते है। इस लाय से बाहर निकाल कर उसके आर्त्त-रौद्र ध्यान मिटाने मे पाप कहना अज्ञानियो का कार्य है ॥१०८॥

ज्याँ ज्याँ गृहस्थ रा गुण रो वर्णन,
  त्याँ त्याँ अल्पारम्भी भाख्या ।
वली ह मीपणो गुणां में,
  में कहो थारा न्थ में दाख्या ॥ च० ॥ १०९ ॥

ल्पारम्भी गुण श्राव केरो,
उववाई सूग ायंग में देखो ।
महारम्भी श्रा हीं होवे,
ल्पारम्भी श्रा रो लेखो ॥ ० ॥ ११० ॥

भावार्थः—सूयगडांग सूत्र और उववाई सूत्र मे तथा और दूसरे दूसरे सूत्रो मे जहाँ जहाँ श्रावको के गुणों का वर्णन है वहाँ वहाँ उन्हे अल्पारम्भीपन और हलुकर्मीपन श्रावको के गुण है। श्रावक महारम्भी नहीं होते हैं। इस बात को वे (तेरहपन्थी) लोग भी मानते हैं और उनके ग्रन्थो मे भी श्रावको के ये गुण बतलाये गये है ॥१०६–११०॥

लाय लगावे ते महा वगु में,
सूत्र ांही जिन इ विध भाख्यो ।
नावरणी ादि रो र्त्ता,
ते थी हा मीं दाख्यो ॥ च० ॥ १११ ॥

हा क्रियावन्त तेने जाणो,
महा आश्रव र्मबन्ध ो कर । ।
परजीव ने हावेदन दाता,
ए वा दुर्ग ो ते धर ॥ च० ॥ ११२ ॥

लाय बुझावे ते ा गु तो,
भगवती माँही इणविध बोले ।

अल्प कर्म ज्ञानावरणीदि,
ते थी हलुकर्मा हुआ तोले ॥ च० ॥ ११३ ॥

अल्पक्रिया अल्प आश्रवी ते छै,
ते थी माठा कर्म न बांधे ।
जीवाँ ने बहु वेदना नहीं देवे,
अल्पवेदना गुण ते साधे ॥ च० ॥ ११४ ॥

सूत्र रो न्याय विचारी जीवों,
अग्नि लगावे महारम्भी पापी ।
तिण ने बुझावे ते अल्पारम्भी,
हलुकर्मी यो वीरजी थापी ॥ च० ॥ ११५ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने भगवती सूत्र में फरमाया है कि लाय लगाने वाला पुरुष महा अवगुणी ज्ञानावरणीयादि कर्मों का गाढ बन्ध करने वाला, महाक्रियावान्, महा आश्रवी, दूसरे जीवों को महावेदना देने वाला इत्यादि दुर्गुणों का धारक होता है और जो पुरुष लाय बुझाता है वह लाय लगाने वाले पुरुष की अपेक्षा हलुकर्मी, अल्पक्रिया वाला, अल्प आश्रवी आदि गुणो का धारक होता है। तात्पर्य यह है कि तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी ने यह स्पष्ट फरमाया है कि लाय लगाने वाला महारम्भी एवं महा पापी है और लाय बुझाने वाला अल्पारम्भी तथा हलुकर्मी है ॥१११-११५॥

ाय बुझावे वो अल्पारम्भी,
तो बलता नर बचिया महागुण कहिये ।

अभयदान रो पि ते दाता,
द्ध रिणामी ते धर्म में हिये ॥ च० ॥ ११६ ॥

भावार्थः—जब कि लाय लगाने की अपेक्षा ाय बुझाना ल्पारम्भ का कार्य है तब यह स्पष्ट है कि लाय में जलते ए मनुष्यों को बचाना महागुण का कार्य है। लाय में जलते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला पुरुष अभयदान का दाता है, वह शुद्ध परिणामी है अतः वह धर्म का भागी होता है ॥११६॥

(कहे) "लाय ावे ते अल्पारम्भी,
तो पिण पापी, धर्मी ो ाहीं।
थोडा आरम्भ ने गुण में श्रद्धां,
आरम्भ ला पाप रे ांहीं" ॥ च० ॥ ११७ ॥

(र) इम बोले तो ाणो अज्ञानी,
अल्प- ारम्भ रो भेद पाया।
अल्पारम्भी ो स र्ग में ावे,
(तेथी) ल्पारम्भी ने गु में बताया ॥ च० ॥ ११८ ॥

ा भ्रमवि ध्वंसन ांही,
अल्पारम् ी ने स्व ायो।

---

*, सा कि वे कहते हैं:—

अथ इहाँ तो भद्रकालिक घणा गुण कह्या। सहजे क्रोध, मान, माया, लोभ ला, अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ, अल्प समारम्भ, एहवा गुण करी देवता हुवे छै।

(भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ४८)

अल्पारम्भे महारम्भ नाहीं,
+ यो पिण गुण है चढे ही गायो ॥ च० ॥ ११६ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे (तेरहपन्थी) लोग यह कहे कि—"लाय बुझाने वाला पुरुष अल्पारम्भी है तो आरम्भ चाहे अल्प (थोड़ा) हो या महान् (बहुत) हो हम तो सब आरम्भ को पाप मे ही मानते है। इसलिए अल्पारम्भी को भी हम पापी ही मानते हैं, धर्मी नहीं।"

उनका उपरोक्त कथन अज्ञानतापूर्ण है। उन्होंने अल्पारम्भ और महारम्भ के भेद को ही नही समझा है। अल्पारम्भी पुरुष स्वर्ग मे जाता है इसलिए अल्पारम्भ गुण मे बतलाया गया है। तेरहपन्थियो के चौथे आचार्य श्री जीतमलजी ने भी भ्रमविध्वंसन नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ८४ मे अल्पारम्भ को गुण बतलाया है और इस गुण के कारण अल्पारम्भी पुरुष को स्वर्गगामी बतलाया है। इसलिये तेरहपन्थी लोग अल्पारम्भ को दुर्गुण मे नही कह सकते ॥११७–११६॥

अगि थी मरता जीव बच्या रा,
द्वेष थी तुम इहाँ अवला बोलो।
"अल्पारम्भ तो गुण में नाहीं",
इय छोड़ियो तुम हिरदा में तोलो ॥ च० ॥ १२० ॥

+ अल्प आरम्भ, अल्प समारम्भ, अल्प इच्छा कही। तिवारे इम जाणिये जे घणी इच्छा नहीं, ए गुण छै।

(भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ४८)

अल्पारम्भ गुण बोले,
निरारम्भी साधु रा गुण जाणो।
ते थी साधु आ रो धर्म है जुदो,
दो विध धर्म सूत्र ाणो ॥ च० ॥ १२१ ॥

भावार्थः—'अल्पारम्भ गुण नहीं है' ऐसा कथन करके उन्होंने सत्य की अवहेलना की है और साथ ही साथ उनके आचार्य जीतमलजी के वचन की भी अवहेलना की है। वा व मे बात यह है ि उन लोगों को जीवरक्षा से द्वेष है। इसलिए ग्नि मे जलते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने मे वे पाप बताते हैं। जीवरक्षा से उन्हें इतना तीव्र द्वेष है कि सत्य की अवहेलना रके भी वे ेग जीवरक्षा मे पाप बताते हैं।

साधु आरम्भ का सर्वथा त्यागी होता है इसलिए साधु को निरारम्भी कहा है। श्रावक महा-आरम्भ का त्यागी हो है। वह महा-आरम्भ न करके अल्पारम्भ से ही अपना जी व्यतीत करता है। इसलिए अल्पारम्भ श्रावक का गुण कहा गया है। साधु और श्रावक का धर्म भिन्न भिन्न है। शा में गार धर्म (श्रावक धर्म) और अनगार धर्म (साधु धर्म) इ प्र ार दो धर्म फर ये गये हैं। इसलिए ल्पारम्भ रूप श्रावक के धर्म को एकान्त पाप मे कहना अज्ञानियों कार्य ॥१२०-१२१॥

(कहे) " अल्पार गुण बुझायाँ,
धु बुझावा ने क्यों नहीं ावे" ।
मन्द ि एवी ि ावे,
ी उत्तर वि देवे ॥ ० ॥ १२२ ॥

अल्पारम्भ गुण लाय झायाँ,
निरारम्भ गुण ाधु रो जाणो।
अग्नि-आरम्भ रा त्याग न तोड़े,
मिथ्या त थी करो ताणो ॥ च० ॥ १२३ ॥

तिचार टलने व्रत पले जे,
ते ाम श्रावक रा धर्म मांही।
साधु करे नहीं त्याँ का ां ने,
ते काम साधु रे कल्प में नाहीं ॥ च० ॥ १२४ ॥

भावार्थः—यदि कोई मन्दबुद्धि ऐसी तर्क करे कि लाय बुझाना अल्पारम्भ रूप गुण है तो साधु लाय क्यों नहीं बुझाते? वे इस अल्पारम्भ रूप गुण की आराधना क्यो नहीं करते? तो इसका उत्तर यह है कि अल्पारम्भ श्रावक का गुण है और साधु का गुण निरारम्भ है। साधु ने महारम्भ और अल्पारम्भ सब प्रकार के आरम्भो का सर्वथा त्याग कर दिया है। इस प्रकार अग्नि के अल्पारम्भ का भी उसने त्याग कर दिया है इसलिए साधु अग्नि-आरम्भ के त्याग को नहीं तोड़ता है। श्रावक ने महारम्भ का त्याग किया है, अल्पारम्भ का नहीं। अपने व्रतो के अतिचारो का निवारण करके जो कार्य श्रावक करता है वह उसके धर्म मे है। साधु उन कार्यों को नहीं करता है क्योंकि वह साधु का कल्प नहीं है अर्थात् साधु का गुण निरारम्भ है इसलिए किसी भी प्रकार के आरम्भ का सेवन करना साधु-कल्प (साधु धर्म) के बाहर है। शा मे तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु धर्म (अणगार धर्म) और श्रावक धर्म (आगार धर्म) इस प्रकार दो

फरमाये हैं। साधु अपने धर्म का पालन रता है और श्रावक अपने धर्म का पालन करता है। अपने अपने धर्म का पालन करते हुए वे दोनों (साधु और श्रावक) तीर्थङ्कर भगवान् की आ ा के आराधक हैं।

जिस प्रकार लोक व्यवहार में भी दे ा जाता है कि हीरा पन्ना आदि जवाहरात का व्यापारी (जौहरी) महान् लाभ करता है और कपड़े आदि सामान्य व्यापारी उस जौहरी की अपेक्षा अल्प लाभ करता है। जौहरी जवाहरात के महान लाभ के कार्य को छोड़ कर कपड़े आदि के सामान्य लाभ के कार्य को नहीं करता। इसलिए यदि कोई यह दलील दे कि "जौहरी कपड़े का व्यापार नहीं करता है। अतः कपड़े का व्यापार लाभ का नहीं, घाटे का व्यापार है" तो ऐसी दलील देने वाला मूर्ख कहलाता है उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि—"साधु जौहरी के समान है उसका निरारम्भ गुण महान् है। श्रावक कपड़े के व्यापारी समान है। उसका अल्पारम्भ गुण साधु की अपेक्षा छोटा है। इसलिए यदि कोई यह दलील दे कि—साधु अल्पारम्भ का कार्य नहीं करता है। अतः अल्पारम्भ गुण नहीं है, दुर्गुण (एकान्त पाप) है" तो ऐसी दलील देने वाले को मूर्ख समझना चाहिए।

साधु का धर्म भिन्न है और श्रावक का धर्म भिन्न है। दोनो एक नहीं हो सकते है ॥१२२–१२४॥

"जो साधु करे ते गृहस्थ रे पाप",
यूँ भोला ने भरमाया काठा।
जो चातुर हो ने ज्वाब पूछे जब,
टिके ि ध्याती जावे नाठा ॥ च० ॥ १२५ ॥

जो प श्राव भूखा राखे,
तो हिंसा ागे पहलो व्रत भागे ।
अन्न दियाँ करुणा नहीं जावे,
अतिचार टलवा रो धर्म है सागे ॥ च० ॥ १२६ ॥

रा म ि दि गृहस्थी,
साधु जिमावे तो दूषण लागे ।
गृ स्थी ब्यां ने भूखा राखे तो,
दूषण ागे पह ा व्रत ागे ॥ च० ॥ १२७ ॥

गृहस्थी गृहस्थी री थापना नहीं देवे,
दूजो तीजो तिण रो भागे ।
' ापण दे दे' साधु केवे,
पि गृहस्थ दिया व्रत रेवे सागे ॥ च० ॥ १२८ ॥

इम अने बो ाधु रे दूषण,
ते गृहस्थी रे व्रत रक्षा रो ठामो ।
(ते थी) गृहस्थ ने धु रो ाचार जुदो,
ए हे ते मिथ्मात रा धामो ॥ च० ॥ १२९ ॥

भावार्थ—'जो कार्य साधु नही करता, वह कार्य यदि श्रावक करे तो उसको पाप लगता है' ऐसी प्ररूपणा करके कितनेक मिथ्यात्वियो ने भोले लोगो को भ्रम मे डाल र ा है किन्तु चतुर पुरुष जब इस विषय मे उनसे प्रश्न पूछता है तो वे निरुत्तर हो

जाते हैं और जब चर्चा के लिए कहा जाता है तो जिस प्रकार सिंह के सामने शृगाल दुम दबा कर भाग जाता है उस प्रकार वे मिथ्यात्वी लोग भी चर्चा के क्षेत्र को छोड़ कर भाग जाते है।

'जो कार्य साधु नही करता वह कार्य यदि श्रावक करे तो उसको पाप लगता है' उन्होने जो यह मिथ्या प्ररूपणा की है उसका खण्डन किया जाता है।

साधु यदि अपने गृहस्थ माता-पिता पुत्र ी आदि सांसारिक परिवार वालों को आहार पानी देता है तो साधु को दूषण लगता है किन्तु यदि श्रावक अपने आश्रित पुत्र ी आदि परिवार के लोगो को एव आश्रित पशु आदि को आहार पानी न दे तो उसके पहले व्रत मे दूषण आता है अर्थात् 'भत्तपाण-विच्छेए' नामक अतिचार लगता है जिससे उसका पहला अहिंसा टूट जाता है।

इसी प्रकार किसी श्रावक ने किसी श्रावक के पास अपनी थापण (धरोहर) रखी हो, तो साधु तो उसको ऐसी आ ा नही देते कि " म अमुक श्रावक की धरोहर वापिस उसे दे दो" किन्तु श्रावक उसकी धरोहर को वापिस दे दे तो उसके व्रत की रक्षा होती है और धरोहर को वापिस न देने से उसके दूसरे और तीसरे व्रत मे दूषण लगता है।

इस प्रकार के ऐसे अनेक कार्य हैं जिनके करने से साधु को दोष लगता है, उसके व्रतो मे दूषण आता है किन्तु उन्हीं कार्यों को करने से श्रावक के व्रतो की रक्षा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे अनेक कार्य है जो साधु के लिए दूषण रूप हैं किन्तु वे ही कार्य श्रावक के लिए भूषण रूप हैं इसीलिए

तीर्थङ्कर भगवान् ने ठाणांग सूत्र के ठाणा २ उद्देशक १ में फरमाया है:—

'आगारधम्मे चेव अणगारधम्मे चेव' ।

अर्थात्:—आगार धर्म और अणगार धर्म यानी श्रावक धर्म और साधु धर्म ।

इस प्रकार साधु और श्रावक का धर्म भिन्न भिन्न कहा है, एक नहीं । जो पुरुष साधु और श्रावक का एक ही धर्म बतलाता है उसे तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उत्थापक निन्हव समझना चाहिए ॥१२५-१२६॥

णे वखाण आई पड़ते पाणी,
एकान्त पाप तो तिणने न केवे ।
लाय से ाढ मनुष्य बचायाँ,
एकान्त पापी रो पद देवे ॥ च० ॥ १३०॥

इम उलटी कथनी कथी थी ने,
भोलां ने कुपन्थ चढाया ।
परशण पूछ्यां ज्वाब न आवे,
शर्म छोड़ी ने भेष लजाया ॥ च० ॥ १३१ ॥

भावार्थ:—पानी पड़ रहा हो अर्थात् वर्षा बरस रही हो उस समय में भी तेरहपन्थी लोग अपने साधुओं का व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं उसमें तो वे एकान्त पाप नहीं कहते किन्तु लाय में जलते हुए मनुष्यों को लाय से निकालने में एकान्त पाप कहते है ।

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा करके वे भोले लोगों को पन्थ मे डालते हैं। वे स्वय तो कुपन्थ मे पड़कर अनन्त संसार बढ़ाते ही हैं किन्तु साथ मे भोले लोगो को भी कुपन्थ मे डालकर उनके अनन्त संसार की वृद्धि करते हैं।

'आप बे पाँ यो, ले बे जजमा '

इस कहावत को चरितार्थ करते हैं।

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणाओं के विषय मे जब इनसे (तेरहपन्थी साधुओ से) प्रश्न पूछा जाता है तब प्रश्न का तो कुछ उत्तर नही देते किन्तु साधु भेष की शर्म को छोड़ कर निर्ल तापूर्वक भांडों की तरह साधुभेष को लि त करने वाला व्यर्थ का बकवाद करते है ॥१३०-१३१॥

ग्न थी बलता मनुष्य बचायां,
 रि री हिंसा तिण में थावे।
जो इ विध धर्म मनुष्य बचायां,
 तिण पर ोटा न्याय बतावे ॥ च० ॥ १३२ ॥

(हे) "पांच सौ ि त्य नित्य जीवां ने ारे,
 रे ाई अनारज कर्मो।
जो ि श्र धर्म हुवे अग्नि बुझायां,
 तो इण ने ी मारयां हुवे मिश्र धर्मो ॥ च० ॥ १३३ ॥

ो ाय बुझायां जीव बचे तो,
 ाई ने म याँ बचे घ । ग्रा ी।

लाय बुझा ाँ, साई ने मार्याँ,
दोयाँ रो लेखो सरीखो जाणी" ॥ च० ॥ १३४ ॥

भावार्थः—लाय मे जलते हुए मनुष्यो की प्राणरक्षा करने मे पाप बतलाने के लिये तेरहपन्थी लोग एक कुयुक्ति लगाते हैं। वे कहते हैं कि—लाय मे जलते हुए मनुष्यो को लाय से निकालने मे अग्निकाय की हिंसा होती है। अतः लाय मे जलते हुए मनुष्यो की रक्षा करना पाप है। अग्निकाय की हिंसा होने पर भी लाय से मनुष्यो को बचाने मे यदि धर्म माना जायगा तो एक कसाई जो रोजाना पाँच सौ बकरो को मारता है, उस कसाई को मार देने से भी धर्म होता है ऐसा उन्हे मानना पड़ेगा क्योंकि जिस प्रकार लाय को बुझाने से (अग्निकाय की हिंसा से) मनुष्यों की रक्षा होती है उसी प्रकार कसाई को मार देने से भी बहुत से बकरो की रक्षा होती है। लाय बुझाना और कसाई को मारना ये दोनो एक सरीखे कार्य हैं इसलिए या तो दोनो मे धर्म मानना पड़ेगा या दोनो से पाप मानना पड़ेगा।" ॥१३२-१३४॥

(उत्तर) खोटा न्याय इम देवे अज्ञानी,
परतख बोले अनारज वाणी।
अग्नि बुझावणो मिनख ने मारणो,
सरी ो कहे महा अधर्म प्राणी ॥ च० ॥ १३५ ॥

मनुष्य मार बकरा ने बचावे,
अग्नि थी बलता मनुष्य निकाले।
दोयाँ रो ए ही ले ो बतावे,
वे अन्याय रे र्ग चाले ॥ च० ॥ १३६ ॥

रा मत रा श्रावक श्राविका,
अग्नि तो नित ही लगावे बुझावे ।
मनुष्य रा मार जैसा महा-पापी,
थारी श्रद्धा रे लेखे थावे ॥ च० ॥ १३७ ॥

भावार्थः—उपरोक्त कुयुक्ति देकर वे अज्ञानी इस बात की स्थापना करते हैं कि—"मनुष्य को मार कर बकरे की रक्षा करना और लाय में जलते हुए मनुष्यों को बचाना दोनों एक समान कार्य है" इस प्रकार अनार्य वचन कह कर वे महा-अधर्मी प्राणी अन्याय की स्थापना करते हैं। उनसे (तेरहपन्थी साधुओं से) पूछना चाहिए कि—तुम्हारे भक्त श्रावक और श्राविकाएँ रोजाना अग्नि जलाते और बुझाते है। तुम्हारी उपरोक्त मान्यतानुसार तो वे मनुष्य की हत्या करने वाले के समान महा-पापी है। फिर तुम रोजाना अग्नि जलाने और बुझाने का आरम्भ करने वाले तुम्हारे भक्त श्रावक श्राविकाओं को मनुष्य की हत्या करने वाले के समान महा-पापी क्यो नहीं मानते ? ॥१३५-१३७॥

मोटी में मोटी मनुष्य री हिं ,
ग्नि री हिं । सूक्ष्म ाखी ।
ाय बुझावे ते अल्पारम्भी,
वती सूत्र रो ाखी ॥ च० ॥ १३८ ॥
बचावण मनुष्य ने ारे,
अग्नि थी बलता मनुष्य बचावे ।
दोयाँ ने रीखा कुगुरु केवे,
मिथ्याती ौड़े दावे ॥ ० ॥ १३९ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने भगवती सूत्र से फरमाया है कि—"मनुष्य की हिंसा सब हिंसाओं से बड़ी है। अग्नि की (स्थावर जीवों की) हिंसा सूक्ष्म है। अग्नि (लाय) बुझाने वाला व्यक्ति अल्पारम्भी है" अर्थात् मनुष्य की हिंसा करने वाला महारम्भी, महा-पापी है और लाय बुझाने वाला अल्पारम्भी हलुकर्मी है। अतः बकरे को बचाने के लिए मनुष्य की हत्या करने वाले को और लाय मे जलते हुए मनुष्यों को लाय से निकालने वाले पुरुष को इन दोनों को एक समान कहने वाला महा मिथ्यात्वी है। वह जीवरक्षा का द्वेषी है ॥१३८–१३९॥

ब रा बचावरा मनुष्य ने मारे,
ते तो परतख छै मीं।
ग्नि थी ब ता मनुष्य बचावे,
अल्पारम्भी ने दया-धर्मी ॥ च० ॥ १४० ॥

भावार्थः—बकरे को बचाने के लिए मनुष्य को मारने वाला पुरुष तो प्रत्यक्ष कुकर्मी है, नरहत्यारा है और लाय में जलते हुए मनुष्यों की रक्षा करने वाला अल्पारम्भी दया-धर्मी पुरुष है ॥१४०॥

बिन आरम्भ नर मरता बचावे,
तिण में जो एकान्त पाप बतावे।
ते अग्नि रा ारम्भ रो ना लेई ने,
फोकट भोलाँ ने भरमावे ॥ च० ॥ १४१ ॥
जीवदया रा द्वेषी वेषी,
णाहूंताई चो लगावे।

बुद्धिवन्त न्याय सूतर रो देवे,
पग पग कुगु ने अट ावे ॥ च० ॥ १४२ ॥

भावार्थः—जो पुरुष किसी प्रकार का आरम्भ किये बिना मनुष्यों की रक्षा करता है उसमे भी वे तेरहपन्थी लोग एकान्त पाप कहते है फिर अग्नि के आरम्भ का नाम लेना व्यर्थ है। वे अग्नि के आरम्भ का नाम लेकर व्यर्थ ही भोले लोगों को म मे डालते हैं। उन लोगो की मान्यताओ के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) भार से पूर्ण गाड़ी आ रही है, और मार्ग में कोई बालक सोया हुआ है। कोई दयावान् पुरुष उस बालक को उठा लेवे तो इस कार्य को तेरहपन्थी एकान्त पाप कहते हैं।

(२) तीन मंजिल पर से कोई बालक गिरता हो तो उसको ऊपर ही पकड़ कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप करने वाला बतलाते है।

(३) प महा धारी साधु के गले में यदि किसी पु ने फाँसी लगा दा हो तो उसकी फाँसी को गोलने वाले दयालु पु को तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते है।

(४) कोई कसाई बकरे को मार रहा हो तो उस बकरे की प्राणरक्षा के लिए यदि कोई दयालु पुरुष उस कसाई को य उपदेश दे कि 'इसको मत मार' तो इस प्रकार 'मत मार' का उपदेश देने वाले पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(५) किसी गृहस्थ के पैर नीचे कोई जीव ा गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप ा ह हैं।

(६) तेरहपन्थ के साधुओ के सिवाय किसी भी दीन, अनाथ, अपङ्ग गरीब प्राणी को दान देना एकान्त पाप है ऐसा तेरहपन्थी कहते है।

(७) पुत्र अपने माता पिता की और स्त्री अपने पति की सेवा शुश्रूषा करे तो तेरहपन्थी इस कार्य को एकान्त पाप कहते हैं।

तेरहपन्थियो के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रमविध्वंसन' 'भिक्षु यश रसायन' 'अनुकम्पा की ढाले' और 'बारह व्रत की ढालें' आदि इसी प्रकार की अनेक मान्यताओ और कुयुक्तियों से भरे पड़े है।

इन लोगो को दया और दान से द्वेष है। ये दया दान के उत्थापक निन्हव हैं। इसीलिए कुयुक्तियाँ लगा कर ये लोग दया और दान मे पाप बतलाने की धृष्टता करते है किन्तु जब बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रो का प्रमाण देकर इन लोगो से इस विषय मे प्रश्न पूछते हैं तब वे शास्त्रानुकूल सीधा उत्तर कुछ भी नही दे सकते है, उन्हे कदम कदम पर अटकना पड़ता है फिर भी वे अपना दुराग्रह नही छोड़ते है ॥१४१-१४२॥

उगणीसे छीयासी संवत,
श्रावण द्वादशी खदाई।
र । मति मत एडया,
चूरू हर में हर्षे बनाई ॥
चतुर धर्म रो निर्णय ीजे ॥ १४३ ॥

भावार्थ:—संवत् १९८६ श्रावण शुक्ला द्वादशी के दिन बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू शहर मे जिनाज्ञा से विपरीत प्ररूपणा

रने वाले पन्थ का न करने वाली और जिनाज्ञा के अनु-कूल दया दान का मण्डन करने वाली यह ाठवीं ढाल सम्पूर्ण की गई है। जो विवेकी पुरुष सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य बात को ग्रहण करेगा उसका ात्म कल्याण होगा ॥१४३॥

॥ इति आठवीं ाल सम्पूर्ण ॥

❀ दोहा ❀

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिरण में दोप अनेक।
जीवरक्षा में गुण घणा, गजो आणि विवेक ॥ १ ॥

भावार्थः—जीव हिंसा अति जघन्य है और इसमे अनेक दोष हैं। जीवरक्षा अति उत्तम है और इसमे अनेक गुण हैं। उन गुणों का किञ्चित् वर्णन यहाँ किया जाता है। अतः हे भव्य जीवो ! विवेक पूर्वक श्रवण करो ॥१॥

: ढाल-नव ी :



(तर्जः—यो भव रतन चिंतमणि सरिखो)

रक्षा देवी सब सुखदाई,
ा ि पुरी ी साई ी।
साठे ामे दया ही जिन,
दसमा रे ाई जी ॥
र ा धर्म ी ि जी री ाणी ॥ १ ॥

भावार्थः—रक्षा सब प्राणियों को सु देने वाली है और मोक्ष की सहायिका है अर्थात् मुि देने वाली है। प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में श्रमण भगवान् श्री महावीर ामी ने रक्षा के साठ नाम फरमाये हैं। मरते प्राणी की प्राणरक्षा करना यही श्री तीर्थ र भगवान् का परम पवित्र उपदेश है ॥१॥

वर रे खेम री ि,
अहिं ा दुः त जी।
द्वीप त ी परे ा शरण ा,
णधर एम उचरता जी ॥ रक्षा० ॥ २ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार समुद्र में डूबते ए प्राणियों के लिए द्वीप ाण र रूप होता है उसी प्रकार संसार रूप समुद्र में डूबते

हुए प्राणियों के लिए रक्षा त्राण शरण रूप है। त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के लिए रक्षा क्षेम अर्थात शान्ति करने वाली है। यह अहिंसा रूप है और समस्त दुःखों को हरण करने वाली है। इस प्रकार गणधर देवों ने शास्त्रों में अनेक गुण वर्णन किये हैं ॥२॥

अब प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार में आये हुए दया के ६० नामों का कथन किया जाता है:—

निर्वाण[1] नि[2] त्ति नाम छै इण रो,

समाधि[3] शक्ति[4] स्वरूपो जी।

कीर्ति[5] जग प्रसिद्ध करता,

ान्ति[6] दूभुत रूपो जी ॥ रक्षा० ॥ ३ ॥

भावार्थः—(१) निर्वाण—मोक्ष का कारण होने से दया (अहिंसा) निर्वाण कही जाती है। (२) निवृत्ति—मन की प्रसन्नता, स्वस्थता एवं निश्चिन्तता और दुःखो की निवृत्ति रूप होने से दया को निवृत्ति कहा जाता है। (३) समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता। (४) शक्ति—मोक्ष गमन की शक्ति देने वाली अथवा परम शान्ति देने वाली होने से दया शक्ति कहलाती है। (५) कीर्ति—यश कीर्ति की देने वाली। (६) कान्ति—तेज प्रताप एवं सौन्दर्य और शोभा को देने वाली होने से दया कान्ति कहलाती है ॥३॥

रति[७] ानन्द रे हेतुपणा थी,

विरति[८] पाप निवरती ी।

श्रु[९] ाङ्गा श्रुत ज्ञान थी उप ी,

तृप्त करे ते तृ[१०] जी ॥ रक्षा० ॥ ४ ॥

भावार्थः—(७) रति—आनन्ददायिनी होने से दया रति कहलाती है। (८) विरति—पाप से निवृत्त कराने वाली। (९) श्रुता ा—श्रुत अर्थात् ज्ञान ही जिसका अङ्ग है ऐसी यानी श्रुत ान से उत्पन्न होने वाली। (१०) तृप्ति—तृप्ति अर्थात् सन्तोष देने वाली होने से दया तृप्ति कहलाती है ॥४॥

देही री रक्षा थी दया[११] हीजे,

मुक्ति[१२] अने खंती[१३] उदारो जी।

मकित[१४] नी ाराध सांची,

जी ां! हिरदा में धारो जी ॥ रक्षा० ॥ ५ ॥

भावार्थः—(११) दया—सब प्राणियों की रक्षा रूप होने से यह दया अर्थात् अनुकम्पा कहलाती है। शा कारों ने दया की बड़ी महिमा बतलाई है और यहाँ तक फरमाया है:—

"व्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पा यणं भगव ा सुकहियं"

अर्थात्—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं अर्थात् जैनागम का कथन किया है।

(१२) मुक्ति (विमुक्ति)—संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त कराने वाली। (१३) क्षान्ति—क्रोध का निग्रह कराने वाली। (१४) सम्यक्त्वाराधना—समकित की आराधना कराने वाली अर्थात् समकित प्राप्ति का मुख्य अङ्ग होने से दया सम्यक्त्वा-राधना कही जाती है। अतः समकित की आराधना करने के लिए विशेष दया (अनुकम्पा) करते हैं ॥५॥

धर्मा नुष्ठान बढावे,
महन्ती इण रो नामो जी।
वीजा इण रक्षा रे जे,
जिन भाखे अभिरामो जी ॥ रक्षा० ॥ ६ ॥

भावार्थः—(१५) महंती (महती)—सब धर्मों का अनुष्ठान रूप होने से दया (अहिंसा) महंती कहलाती है। यथाः—

एकं चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥

अर्थातः—सब तीर्थङ्कर देवों ने प्राणातिपात विरमण अर्थात् अहिंसा (दया) रूप एक ही व्रत मुख्य बतलाया है। शेष व्रत तो उस अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए ही बतलाये गये हैं ॥६॥

जिनधर्म पावे इण परतापे,
ते थी बोधि कहिये जी।

बुद्धि[17] धृति[18] समृद्धि[19] ऋद्धि[20] वृद्धि[21]

स्थिति[22] शाश्वती एथी लहिये जी ॥ रत्ना० ॥ ॥

भावार्थः—बोधि—सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने वाली होने से दया (अहिसा) बोधि रूप है क्योंकि दया अर्थात् अनुकम्पा बोधि यानी समकित का कारण है। (१७) बु —बुद्धि प्रदायिनी होने से दया (अहिसा) बुद्धि कहलाती है, क्योंकि कहा है:—

बावत्तरिकला कुसला, पंडिय पुरिसा पंडिया चेव ।
सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न याणंति ॥

अर्थात्—शास्त्र में वर्णित पुरुप की ७२ कलाओं मे प्रवीण होते हुए भी जो पुरुष सब कलाओ मे प्रधान दया धर्म रूप क । को नही जानते, वे अपण्डित ही है।

(१८) धृति—चित्त की दृढ़ता देने वाली होने से दया धृति कहलाती है। समृद्धि और ऋद्धि की देने वाली तथा वृद्धि करने वाली होने से दया (१९) समृद्धि (२०) ऋद्धि और (२१) वृद्धि कहलाती है। (२२) स्थिति—शाश्वत स्थिति अर्थात् मोक्ष को देने वाली होने से दया स्थिति कहलाती है ॥७॥

पुष्टि[23] पुण्य रो उपचय इण थी,

द्धिं लावे नन्दा[24] जी।

जीवां रे ल्याण री कर्त्ता,

भद्रा[25] णो मुनिन्दा जी ॥ रत्ना० ॥ ८ ॥

भावार्थः—दया पुण्य की वृद्धि करने वाली होने से (२३) पुष्टि, समृद्धि और आनन्द की देने वाली होने से (२४) नन्दा और जीवो का कल्याण करने वाली होने से (२५) भद्रा कहलाती है ॥८॥

२६ विशुद्धि [ ] र्म ता दाता,
लब्धि री दाता २७ लब्धि जी।
सब मत में प्रधानता इण री,
२८ विशि दृष्टि सिद्धि जी ॥ रत्ना० ॥ ६ ॥

भावार्थः—पाप का क्षय कर जीव को निर्मल करने वाली होने से (२६) विशुद्धि और केवलज्ञानादि लब्धि का कारण होने से दया (२७) लब्धि कहलाती है। (२८) विशिष्ट इष्टि—सब धर्मों मे दया (अहिंसा) ही विशिष्ट इष्टि अर्थात् प्रधान मानी गई है। कहा भी है:—

विं तए पढियाए, पय कोडीए पला भूयाए।
जत्थेत्तियं न णायं, परस्स पीडा न कायव्वा ॥

अर्थात्:—'प्राणियो को किसी प्रकार से कष्ट न पहुँचाना और कष्ट मे पड़े हुए प्राणी के कष्ट को दूर करना, यह तत्त्व यदि न सीखा गया तो करोडो पद अर्थात् अनेक शास्त्र पढ़ लेने से भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि दया (अहिंसा) के विना वे सब पलालभूत अर्थात् निःसार है ॥६॥

कल्याणा[२९] कल्याण री दाता,
मंगलिक[३०] वि ि टावे जी ।
हर्ष करे ते थी यह मोदा[३१],
विभूति[३२] इण थी ावे जी ॥ रक्षा० ॥ १० ॥

भावार्थः—(२९) कल्याणा—दया कल्याण की प्राप्ति कराने वाली है। (३०) मंगलं—'मं पापं गालयतीति मंगलं' अर्थात् जो पापो को नष्ट करे वह मङ्गल कहलाता है अथवा 'मंगं श्रेयः कल्याणं लाति ददातीति मंगलं' अर्थात् जो कल्याण को दे वह मगल कहलाता है। पापो का नाश करने वाली होने से दया मंगल कहलाती है। दया प्रमोद की देने वाली होने से (३१) प्रमोदा और सब विभूतियां को देने वाली होने से (३२) विभूति कहलाती है ॥१०॥

जीव बचायां जीवों री रक्षा,
रक्षा[३३] इ रो ा ो जी ।
ज्ञानी होवे स झे ज्ञान में,
र ा धर्म रो ामो जी ॥ रक्षा० ॥ ११ ॥

ारी र्मा लोगों ने भ्रष्ट कर ने,
रक्षा में पाप बतावे जी ।
त्यां ने गु थें त्यक्त जाणो,
ते दीर्घ संसार बधावे जी ॥ रक्षा० ॥ १२ ॥

जीवरक्षा सूत्तर री वाणी,
तो पाप कहो किण लेखे जी।
अन्तर आँख हिया री फूटी,
ते सूत्र सामो नहीं देखे जी ॥ रक्षा ॥ १३ ॥

भावार्थ —(१३) रक्षा—मरते प्राणियो के प्राणो को बचाना रक्षा कहलाती है।

जो पुरुष ज्ञानी है वे इस बात को भली प्रकार समझते है कि 'रक्षा' परम धर्म का कार्य है। भारीकर्मा और भोले जीवो को सत्य सिद्धान्त से भ्रष्ट करने के लिए जो लोग 'रक्षा' मे पाप बताते है उन्हे कुगुरु समझना चाहिए। 'रक्षा' मे पाप बता कर वे अपना अनन्त ससार बढ़ाते है।

'जीवरक्षा' करना जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है बल्कि जैनागम की रचना ही जीवरक्षा रूप दया के लिए हुई है, जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार मे कहा है:—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भ वया हियं'

अर्थात्:—सम्पूर्ण जगत के जीवो की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये है।

इस सूत्रपाठ मे जीवरक्षा के लिए जैनागम की रचना होना बतलाया गया है। सूत्र का ऐसा स्पष्ट पाठ होते हुए भी वे ही लोग जीवरक्षा मे पाप बता सकते है जिनकी ज्ञान चक्षु एवं हृदय की आँखे फूट चुकी हो और इस कारण सूत्रपाठ को नही देखते हो। जैसे कि सूर्य के प्रकाश को घूग्घू नही देख सकता तो

इसमे सूर्य का कुछ भी दोष नहीं किन्तु घूग्घू का ही दोष है इसी तरह जो ऐसे स्पष्ट सूत्रपाठ को नहीं देख सकते तो यह उन्हीं का दोष है सूत्र का कुछ नही क्योंकि सूत्रों मे तो जगह जगह जीव-रत्ता का विधान किया गया है ॥११-१३॥

रि[३४]द्धिआ । अरु [३५]अणा वा,
केवली केरो [३६]स्थाणो जी ।
[३७]शिव [३८]समिति सम्य् परवृत्ति
[३९]शील म माधानो ी ॥ रत्ता० ॥ १४ ॥

भावार्थ:--दया मोक्ष के अक्षय निवास को देने वाली होने से (३४) सिद्धावास, कर्मबन्ध को रोकने का उपाय होने से (३५) अना व कहलाती है। (३६) केवलीस्थान--दया केवली भगवान का स्थान है अर्थात् केवली प्ररूपित धर्म का मुख्य आधार दया (अहिंसा) ही है इसीलिए दया केवलीस्थान कहलाती है। शिव अर्थात मोक्ष का हेतु होने से (३७) शिव और सम्यक् प्रवृत्ति कराने वाली होने से (३८) समिति तथा चित्त की समाधि रूप होने से दया (३९) शील कहलाती है ॥१४॥

हिं ति [४०]संय हिये,
[४१]शील परिघर जाणो जी ।
[४२]संवर [४३]गुप्ति [४४]व्यवसाय नामे,
नि र प थी णी जी ॥ रत्ता० ॥ १५ ॥

भावार्थः—हिंसा की निवृत्ति रूप होने से अहिंसा (दया) संयम कही जाती है। दया (अहिंसा) चारित्र का घर (आश्रय) होने से (४१) शील परिघर, नवीन कर्मों के बन्ध को रोकने वाली होने से (४२) संवर, मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाली होने से (४३) गुप्ति और विशिष्ट अध्यवसाय रूप होने से (४४) व्यवसाय कहलाती है ॥१५॥

उच्छ्रय[४५] ते उन्नत समझो,
यज्ञ[४६] तेपूजा देवां री जी।
गुण आश्रय रो स्थान निर्मल,
आयतन[४७] नाम छै भारी जी ॥ रक्षा० ॥ १६ ॥

भावार्थः—मन के शुद्ध भावों को उन्नति देने वाली होने से दया (४५) उच्छ्रय, और भाव से देव पूजा रूप होने से (४६) यज्ञ तथा गुणों का स्थान होने से (४७) आयतन कहलाती है ॥१६॥

यजन[४८] अभयदान थी जाणो,
जीवरक्षा रो उपायो जी।
ते थी यतना इण ने कहिये,
पर्याय नाम कहायो जी ॥ रक्षा० ॥ १७ ॥
जीव बचायां में पाप बतावे,
ते कुपन्थे पड़िया जी।
परतख पाठ देखे नहीं भोला,
हिरदा मिथ्यात से जड़िया जी ॥ रक्षा० ॥ १८ ॥

भावार्थः— भयदान की देने वाली होने से दया (४८) यतना कहलाती है अथवा प्राणियों की रक्षा रूप होने से दया यतना कहलाती है। यतना शब्द यजना का पर्यायवाची शब्द है। रते प्राणी की प्राणरक्षा कर उसे मरण भय से मुक्त करना भयदान है। सब दानों मे अभयदान श्रे है। सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में कहा है कि:—

'दाणा से भयप्पया' ॥ २३ ॥

अर्थात्:—सब दानो मे अभयदान प्रधान है। ऐसा सूत्र का स्पष्ट पाठ है। उस सूत्र पाठ की उपेक्षा कर जो लोग जीवरक्षा एवं अभयदान मे पाप कहते हैं वे लोग कुपन्थ मे पड़े हुए है और उनके हृदय मे घोर मिथ्यात्व छाया हुआ है ॥१७-१८॥

४९
द व इ ी ने कहिये,
ीर ावे जी।
५० णी रो,
में गावे जी ॥ रक्षा० ॥ १९ ॥

भावार्थः—(४९) अप्रमाद (प्रमादअभाव)—प्रमाद का त्याग प होने से दया अप्रमाद कहलाती है। (५०) आश्वासन— कष्ट के समय धैर्य बँधाने वाली होने से तथा आश्वासन रूप होने से दया आश्वासन कहलाती है ऐसा सूत्रों मे गणधर देवों ने कहा है ॥१९॥

५१
वि स पावे ने देवे,
दया ोवी जाणो ।

भयभीत प्राणी ने अभय जो देवे,

ते अभय[५२] नाम परमाणो जी ॥ रक्षा० ॥ २० ॥

भावार्थः—(५१) विश्वास—दया भगवती के कारण जीव स्वयं विश्वास को प्राप्त होता है और दूसरो को भी विश्वास दिलाता है इसलिए दया विश्वास कहलाती है। (५२) अभय—जगत् के सब प्राणियो को अभयदान की देने वाली होने से दया 'अभय' कहलाती है ॥२०॥

[५३] घात ते अमारी कहिये,

श्रेणि पड़ह पिटायो जी।

दया हीण तो पाप बतावे,

सूत्र रो पाठ उ यो जी ॥ रक्षा० ॥ २१ ॥

भावार्थः—(५३) अमाघात–किसी भी प्राणी को न मारने रूप होने से दया अमाघात (अमारी) कहलाती है। श्रेणिक राजा ने अपने राज्य मे अमारी का पड़ह फिराया था अर्थात् 'किसी भी जीव को मत मारो' ऐसी उद्घोषणा कराई थी। कितनेक दयाहीन लोग इस दया के कार्य मे पाप बतलाते है वे सूत्र-पाठ के उत्थापक है ॥२१॥

चोखा[५४] पवित्रा[५५] अति ही पावन,

दोनों रो अर्थ एको जी।

५६
व चि स भूत दया थी,

५७
पवित्र पू । दे ो जी ॥ रचा० ॥ २२ ॥

थवा पूजा र्थ इणी रो,
भाव से देव पूजिजे जी ।
द्रव्य सावज पूजा हिं में,
ते इह नाय गिणीजे जी ॥ रचा० ॥ २३ ॥

भावार्थ.—(५४) चोखा (चोक्ता)—पवित्र होने से दया चोखा कहलाती है। (५५) पवित्रा—पावन पवित्र होने से दया पवित्रा कहलाती है। चोखा और पवित्रा दोनो का समान अर्थ है। (५६) शुचि—भावशुचि रूप होने से दया शुचि कही जाती है। कहा भी है:—

सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनि : ।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च प म् ॥

अर्थात्:—सत्य, तप, इन्द्रिय निग्रह और सब प्राणियों की दया शुचि है और पाँचवीं जल शुचि कही गई है। उपरो चार भाव शुचि है और जल शुचि द्रव्य शुचि है ॥

(५७) पूता—पवित्र होने से दया पूता कही जाती है। पूता का दूसरा नाम पूजा है, जिसका अर्थ है भाव से देव पूजा करना। यहाँ द्रव्य पूजा एवं मावद्य पूजा का ग्रहण नहीं है ॥२२-२३॥

५८ ५९ ६०
विमल प्रभासा अरु निर्मलतर,
साठ म मु भाख्या जी।
प्रवृत्ति और नि त्ति रे ोगे,
भि भि नाम ये दाख्या जी ॥ रक्षा० ॥ २४ ॥

नहीं हणनो निवृत्ति जाणो,
परवरति गुण रक्षा जी।
प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ओलखाया,
यां नामां री दीनी शिक्षा ी ॥ रक्षा० ॥ २५ ॥

भावार्थः—(५८) विमला—निर्मल, स्वच्छ होने से दया विमला कहलाती है। (५९) प्रभासा—दीप्ति रूप होने से दया प्रभासा कही जाती है। (६०) निर्मलतरा—जीव को अति निर्मल बनाने वाली होने से दया निर्मलतरा कही जाती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की अपेक्षा से दया के ये साठ नाम कहे गये हैं अर्थात् किसी भी जीव को न मारना निवृत्ति रूप दया है और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना प्रवृत्ति रूप दया है। इस प्रकार इन साठ नामो द्वारा प्रवृत्ति रूप दया और निवृत्ति रूप दया इन दोनो का स्वरूप बतलाया गया है ॥२४-२५॥

त्रिविधे त्रिविधे : काय णनी,
इ ने तो धर्म व ा जी।
त्रिविधे त्रिविधे जीव रक्षा करण में,
पाप कहि धर्म लजावे जी ॥ रक्षा० ॥ २६ ॥

भावार्थः—तीन करण तीन योग से किसी जीव को न मारना, इस कार्य मे तो जो धर्म बताते हैं किन्तु तीन करण तीन योग से जीवरक्षा करने मे पाप बताते हैं वास्तव में उन लोगों ने दया का स्वरूप ही नहीं पहचाना है। जीवरक्षा मे पाप कह कर वे धर्म को ल त करते है ॥२६॥

नहीं हणनो ने ा करणी;
ते प्रभु आज्ञा आरा ी जी।
या ही भा में परूपे,
वीर कह्या न्याय ादी जी ॥ रक्षा० ॥ २ ॥

भावार्थः—किसी भी जीव को न मारना और मरते हुए प्राणी की रक्षा करना यही दया का सच्चा स्वरूप है। जो पुरुष इस प्रकार की दया का पालन करता है वह जिन-आज्ञा का ाराधक है। और सभा मे भी जो दया के इसी स्वरूप का उपदेश देता है वह सत्यवादी एवं न्यायवादी है ऐसा वीर भगवान् ने फरमाया है ॥२७॥

ाणी भूत ी सत्व री,
नुकम्पा ोई र ी ी।
वेदनी ते बांधे,
पुण्यश्री ते वरसी जी ॥ रक्षा० ॥ २८ ॥

भावार्थः—जो कोई व्यक्ति प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करेगा उसके साता वेदनीय कर्म का बन्ध होगा ौर महान् पुण्य का लाभ होगा।

विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते हैं। वनस्पति काय को भूत कहते है। पञ्चेन्द्रिय प्राणियो को जीव कहते है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवो को सत्त्व कहते है। इन सब की अनुकम्पा करना प्राणी भूत जीव सत्त्व की अनुकम्पा कहलाती है ॥२८॥

भय पाया न शरणो[1] देवे,
दया जीव विश्रामो जी।
पंखी गगन[2] तिसिया[3] ने पाणी,
भूखो[4] भोजन रे ठामो जी ॥ रत्ता० ॥ २६ ॥

जहाज[5] समुद्र तिरण उपकारी,
चौपद[6] आश्रम थानो जी।
रोगी[7] औषध बल सुख पावे,
अटवी[8] ाथ प्रमाणो जी ॥ रत्ता० ॥ ३० ॥

भावार्थ:—दया माता (अहिसा भगवती) को आठ उपमाएं दी गई हैं:—

(१) भयभीत प्राणियो के लिए जिस प्रकार शरण का आधार होता है उसी प्रकार ससार के दु:खो से भयभीत प्राणियो के लिए दया (अहिसा) आधार भूत है।

(२) जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश का आधार है उसी प्रकार भव्य जीवों को दया का आधार है।

(३) प्यासे पुरुष को जैसे जल का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को दया का आधार है।

(४) भूखे पुरुष को जैसे भोजन का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को दया का आधार है।

(५) समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज या नौका का आधार है उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में चक्कर खाते हुए प्राणियों को दया का आधार है।

(६) जिस प्रकार पशु को खूंटे का, (७) रोगी को औषधि का और (८) अटवी (जंगल) में मार्ग भूले हुए पथिक को किसी के साथ का आधार होता है उसी प्रकार संसार में कर्मों के वशीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए दया का आधार है। त्रस स्थावर सभी प्राणियों के लिए दया (अहिंसा) क्षेमंकरी अर्थात् हितकारी है। इसलिए इसे भगवती कहा गया है ॥२९-३०॥

। ाँ थी अधकी हिंसा,
सूत्तर पाठ पिछाणो जी।
थोड़ो थोड़ो गु । में दाख्यो,
सम्पूर्ण रक्षा में जाणो जी ॥ रक्षा० ॥ ३१ ॥
श तो रक्षा आठाँ में होवे,
ते एक देश दया जाणो जी।
य रक्षा र्व दया में
उर इ ने पिछाणो जी ॥ १० ॥ ३२ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवरद्वार मे दया की उपरोक्त आठ उपमाएं कही गई है। वहाँ दया को इन आठों से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है क्योंकि इन आठो में एक अंश रक्षा है और दया मे सर्व अंश रक्षा है। इसलिए दया इन आठों से उत्कृष्ट है ॥३१–३२॥

व जीव खेमकरी ही इण ने,
मूल पा रे मांई जी।
रक्षा खेम रो र्थ ही परगट,
ते ी रक्षा धर्म दाई जी ॥ रक्षा० ॥ ३३ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के मूल पाठ मे दया (अहिसा) को सब जीवो के लिए 'क्षेमकरी' बतलाया है। क्षेम का अर्थ 'रक्षा' होता है। इसलिए 'रक्षा' सब जीवो के लिए सु दायिनी है ॥३३॥

ीव रक्षा· ी वेषी,
रक्षा में प बतावे जी।
दया दया तो से बोले,
देहीरक्षा दया उ वे जी ॥ रक्षा० ॥ ३४ ॥

भावार्थः—साधु का भेष पहन कर भी जो जीवरक्षा से द्वेष रखते हैं ऐसे वेषधारी साधु का नाम धराने वाले 'जीवरक्षा' मे पाप बताते है। वे मुख से तो दया दया कहते हैं किन्तु मरते प्राणी की प्राण रक्षा करने में पाप । कर वे जीवों की रक्षा को उठाते हैं ॥३४॥

माहण माह ह्यो रिहं ।,
मार कह्यां नहीं पापो जी ।
अन्तर नयन हिया रा फूटा,
मत मार में पाप री थापो जी ॥ रक्षा० ॥ ३५ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिए 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है। किसी जीव पर राग लाना साधु को उचित नहीं है। अतः मारे जाते हुए जीव की प्राणरक्षा करने के लिए साधु को 'मत मार' यह उपदेश न देना चाहिए। 'मत मार' कहने मे पाप लगता है। इस प्रकार 'मत मार' कहने में वे लोग पाप की स्थापना करते हैं किन्तु उनका यह कथन शा विरुद्ध है। तीर्थ र भगवान् ने शा ो मे साधु को 'माहण' कहा है। माहण शब्द का अर्थ यह है—'मा—मत, हण-मार' अर्थात् जो 'मत मार' ऐसा उपदेश देते हैं वे 'माहण' कहलाते हैं। अतः जो लोग 'मत मार' कहने मे पाप को स्थापना करते हैं वे तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा के उत्थापक है ॥३५॥

(कहे) "रक्षा रताँ ाणी र ावे,
रक्षा में पाप बतावाँ ी ।
जो ध कारज में हिं ा होवे,
ते धर्म ने पाप में गावाँ जी" ॥
चतुर सत्य रो निर्णय ीजे ॥ ३६ ॥

भावार्थः—यदि वे लोग यह कहें कि 'मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने मे दूसरे जीवो की हिसा हो जाती है। इसलिए

हम रक्षा मे पाप बताते हैं, क्योंकि जिस धर्म कार्य को करते समय थोड़ी सी भी हिंसा हो जाय तो हम उस धर्म कार्य मे पाप कहते है। इसी कारण से हम जीवरक्षा मे पाप कहते है। इसके लिए उन्होने कुछ दृष्टान्त दिये है। जैसे कि—एक आदमी भूख से मर रहा है, किसी ने उसे गाजर मूली आदि जमीकन्द खिला कर उसकी रक्षा कर दी। एक जीव की रक्षा करने के लिये उसने जमीकन्द के अनन्त जीवो की हिंसा कर दी। इसलिए मरते प्राणी की रक्षा करना पाप है।

एक गाय प्यास से मर रही थी। किसी ने उसको पानी पिला कर उसकी रक्षा कर दी। एक जीव की रक्षा करने मे उसने पानी के असंख्य जीवो की हिंसा कर दी। इसलिए रक्षा करना पाप है।

इस प्रकार के दृष्टान्त देकर वे जीवरक्षा मे पाप की स्थापना करते है और भोले जीवो को भ्रम मे डालते है ॥३६॥

जिण रक्षा में जीव मरे नहीं,
केवल जीवां री रक्षा जी।
तिण में थें पाप बतावो,
तो खोटी थाँरी शिक्षा जी ॥ चतुर० ॥ ३७ ॥

भावार्थः—उन्होने जो यह पक्ष स्थापित किया था कि 'जिस धर्म के कार्य मे थोड़ी भी हिंसा हो जाय उस कार्य को हम पाप मे मानते है' परन्तु वे अपने इस पक्ष पर भी स्थिर नहीं रहते। जिस रक्षा मे किसी भी जीव की हिंसा नहीं होती उस रक्षा को तो उन्हें धर्म में मानना चाहिए किन्तु वे उसमें भी पाप ही

बताते हैं। जैसे कि उन्होंने ऊपर एक भूखे आदमी का और एक प्यासी गाय का दृष्टान्त दिया है उनकी रक्षा इस तरह की जायः— भूः से मरते हुए आदमी को किसी दयालु ने रोटी या भूंगड़े (भूने हुए अचित्त चने) खिला कर उसकी रक्षा कर ली और प्यास से मरती हुई गाय को किसी दयालु ने छाछ या धोवण पिला कर उसकी रक्षा कर ली। अब उन भीषण मतानुयायियो से पूछना चाहिए कि—उपरोक्त दोनो कार्यों में किसी भी जीव की हिंसा नही ई। इस अनुकम्पा मे तुम धर्म मानते हो या पाप ?

उन भीषण मार्गानुयायियो को तो अनुकम्पा से उतना ही भीषण (भयंकर) द्वेष है जितना कि एक क्रूर पापी कसाई को जीवरक्षा से होता है। इनकी भीषण मान्यताओ को सुन कर लोग आश्चर्य करने लगते है और कहने लगते है कि दया और दान को उठा देने वाली इस भीषण पन्थ (तेरहपन्थ) की मान्यताएँ संसार के प्राणियो के लिए उतनी ही भीषण (भयंकर) हैं जितनी कि एक क्रूरकर्मा दुष्ट कसाई की छुरी बकरे के लिये होती है। एक क्षण के लिये कल्पना कीजिये कि यदि यह भीषण पन्थ सारे ससार मे फैल जाय और सारे लोगो के हृदय से दया उठ जाय तो संसार के समस्त प्राणियो का सर्वनाश होने मे कितनी देर लगेगी ? और उस समय यह पन्थ इसके अनुयायियों के लिए भी क्या सचमुच वैसा भीषण न बन जायगा जैसी कि कसाई की छुरी बकरे के लिए भीषण होती है ? इस पन्थ की कुछ भीषण मान्यताओ का नमूना देखियेः—

(१) गायो से भरे हुए बाड़े मे यदि आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस बाड़े के द्वार को खोल कर गायो की रक्षा करे तो उसे तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(२) भार से लदी हुई कोई गाड़ी आ रही है और मार्ग मे कोई बालक सोया हुआ है उस बालक को कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्य को तेरहपन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है।

(३) तीन मंजिल पर से कोई बालक गिरता हो उसको बीच मे ही झेल कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप करने वाला बताते हैं।

(४) प महाव्रतधारी साधु के गले मे किसी दुष्ट के द्वारा लगाई हुई फांसी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उसमे तेरहपन्थी एकान्त पाप होना बतलाते है।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणी के हाथ से मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राणरक्षा करने के लिए यदि कोई कसाई को नहीं मारने का उपदेश देवे तो तेरहपन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं।

(६) किसी गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पाप होना कहते है।

(७) तेरहपन्थ के साधुओ के सिवाय दूसरे को दान देना मांस भक्षण, मद्यपान, और वेश्यागमन के समान एकान्त पाप तेरहपन्थी बतलाते है।

(८) तेरहपन्थ के साधुओ के सिवाय संसार के सभी प्राणियो को तेरहपन्थी 'कुपात्र' कहते है।

(९) पुत्र अपने माता-पिता की और स्त्री अपने पति की सेवा शुश्रूषा करे तो इस कार्य को तेरहपन्थी एकान्त पाप कहते है।

(१०) कोई दुष्ट पुरुष किसी पतिव्रता सती ी के सतीत्व को नष्ट करना चाहता है। कोई पुरुष उस ी के, (चाहे वह तेरह पन्थ सम्प्रदाय की श्राविका या साध्वी ही क्यों न हो) सतीत्व को बचा दे तो उस सतीत्व की रक्षा करने वाले पुरुष को तेरहपन्थी एकान्त पापी कहते हैं उसे अन्तराय देने वाला मानते हैं। जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थों मे लिखा है:—

भोगी ना ोई ोगज रूंधे,
वली पाड़े न्तराय रे।
हा मोहनी र्म जो बांधे,
दशाश्रुत में बतायो रे॥

इनके कहने का तात्पर्य यह है कि पतिव्रत्ता सती पर बलात्कार करने वाले उस पुरुष को रोकने से उस पुरुष के भोग मे अन्तराय पड़ती है। इसलिए उसके सतीत्व की रक्षा करने वाले पुरुष के महामोहनीय कर्मबन्ध होता है।

(११) किसी गृहस्थ के घर मे आग लग गई हो और गृहस्थ का परिवार घर का द्वार बन्द होने के कारण बाहर नही निकल सकता हो किन्तु घर के भीतर आग मे जलते हुए मनुष्य ी और बच्चे आदि आर्त्तनाद करते हो तो उस घर का द्वार खोल कर उन प्राणियो की रक्षा करने वाले को तेरहपन्थी एकान्त पाप करने वाला कहते है और उस घर का द्वार नहीं खोलना धर्म बताते है।

तेरहपन्थ के सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'भ्रमविध्वंसन' 'भिक्षुयशरसायन' 'शिशु हित शिक्षा' 'अनुकम्पा की ढालें' और 'बारह व्रत की ढालें' इन ग्रन्थो मे शास्त्र और लोक विरुद्ध ऐसी अनेक मान्य-

ताएँ बतलाई गई हैं। और उन खोटी मान्यताओ को सिद्ध करने के लिए अनेक कुयुक्तियाँ दी गई है। लोगो द्वारा इन युक्तियों का खण्डन और विरोध होता देख कर तेरहपन्थ सम्प्रदाय के मुखियाओ ने अब इन पुस्तको का बेचना और किसी को देना तक बन्द कर दिया है। आप तेरहपन्थी साधुओ से इन पुस्तकों के विषय मे पूछिये और इन पुस्तको को मंगाने का प्रयत्न कीजिये तब आपको स्वतः विश्वास हो जायगा कि संसार मे ऐसा एक भीषण पन्थ भी है। इस पन्थ की भीषण मान्यताओं को देखकर सहसा आपके मुँह से ये शब्द निकल पड़ेगे कि 'ऐसा जंगली और अनार्य पन्थ इस पवित्र आर्य भूमि पर कैसे चल पड़ा ? पाठक वृन्द ! यह हुण्डावसर्पिणी काल है, और जनता मे अज्ञान बहुत है इसीलिए मूर्ख जनता इस पन्थ के चक्कर मे फँस गई और यह भीषण पन्थ चल पड़ा। इस पन्थ को जीवरक्षा से भारी द्वेष है। 'जीवरक्षा' चाहे किसी भी तरह की जाय उसमे यह पन्थ पाप ही बतलाता है ॥३७॥

श्रावक वन्दरण ने नित आवे,
जीव घणा नित मारे जी।
ते वन्दणा ने पाप में केणो,
तुम श्रद्धा निरधारे जी ॥ चतुर० ॥ ३८ ॥

भावार्थः—उन लोगो ने यह पक्ष स्थापित किया था कि जिस धर्म कार्य मे थोड़ी भी हिंसा हो हम उस धर्म कार्य को पाप में बताते है। अब उनसे पूछना चाहिए कि—'तुम्हारे श्रावक रोजाना तुम्हें (भीषण मतानुयायी साधुओ को) वन्दना करने के लिए आते है। उनके आने जाने मे अनेक जीवो की घात होती

है। अब बतलाइये आप उन श्रावकों की वन्दना को धर्म मे मानते हैं या पाप मे ? आपके सिद्धान्तानुसार तो उस वन्दना को पाप मे कहना चाहिए ॥३८॥

(कहे) । जा में जीव मरे छै,
ते तो आरम्भ ांई जी ।
वन्द ने म्हें धर्म में मा ाँ,
ाव अच्छा सुखदाई जी ॥ चतुर० ॥ ३६ ॥

भावार्थः—तब वे उत्तर देते है कि:—'श्रावक लोग हमे वन्दना करने के लिए आते है उनके आने जाने में जो जीव हिंसा होती है वह आरम्भ मे है किन्तु हम उनकी वन्दना को धर्म मे मानते हैं, उनके परिणाम अच्छे है। उनके आने जाने की ि या भिन्न है और वन्दना भिन्न है। अतः आने जाने की क्रिया के सावद्य (पापकारी) होने पर भी वन्दना सावद्य नहीं हो सकती' इस प्रकार वे अपनी वन्दना के विषय मे उत्तर देते है ॥३६॥

(उत्तर) तो इमहि तुम समझो चतुर नर,
रक्षादि धर्म रे माँई जी ।
हलण चलण थी जीव मरे ो,
आरम्‍ समझो भाई जी ॥ चतुर० ॥ ४० ॥

ारम्भ ने अगवाणी रने,
रक्षा में पाप भाखो जी ।
परिणाम आछा है धर्म रे माँई,
थें श्रद्धा सूधी राखो जी ॥ चतुर० ॥ ४१ ॥

भावार्थः—अब उन लोगो से कहना चाहिए कि जिस प्रकार तुम वन्दना के विषय मे कहते हो उसी प्रकार रक्षा के विषय से भी समझना चाहिए। मरते हुए प्राणी पर अनुकम्पा करके उसकी प्राणरक्षा करने वाले दयालु पुरुष के भी परिणाम शुद्ध होते है इसलिए रक्षा धर्म का कार्य है और उसके लिए जो हलन चलन आदि क्रिया होती है वह आरम्भ है। आरम्भ की क्रिया भिन्न है और रक्षा भिन्न है। जिस प्रकार आने जाने की क्रिया के सावद्य होने पर भी आप लोग वन्दना को सावद्य नही मानते उसी प्रकार हलन चलनादि क्रिया के सावद्य होने पर भी रक्षा सावद्य नही है। इस प्रकार रक्षा के विषय मे भी आपको शुद्ध श्रद्धा रखनी चाहिए जिससे आत्मा का कल्याण हो। इससे विपरीत श्रद्धा रखने पर अनन्त काल तक चतुर्गति रूप संसार मे भटकना पड़ेगा ॥४०-४१॥

त्र थावर हिंसा सूतर में,
अल्प महारंभ बोले जी।
थावर सूक्ष्म हिंसा हिये,
त्रस री मोटी गोले जी ॥ चतुर० ॥ ४२ ॥

त्रस में स-अपराधी री छोटी,
निर-अपराधी री मोटी जी।
छोटी रा योग थी मोटी छुटे तो,
छूटी ते किम हुवे खोटी जी ॥ चतुर० ॥ ४३ ॥

भावार्थः—शास्त्रो मे जीवो के दो भेद कहे गये हैः—त्रस और स्थावर। इन दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा त्रसहिंसा और

स्थावर हिंसा कही गई है। जिसमें त्रस जीवों की विशेष हिंसा हो वह महा-आरम्भ कहा गया है और जिसमें स्थावर जीवों की हिंसा हो वह अल्पारम्भ कहा गया है अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा बड़ी हिसा है और स्थावर जीवों की हिंसा छोटी हिंसा है।
हिंसा के दो भेद :—सापराधी त्रस हिंसा और निरपराधी त्रस हिंसा। इन दोनों मे सापराधी हिंसा (अपना पराध रने वाले त्रस प्राणी की हिंसा) छोटी है और निरपराधी त्र हिंसा (अपना छ भी अपराध न करने वाले अर्थात् बेगुनाह-निर्दोष त्रस प्राणी की हिंसा) बड़ी है। इन उपरोक्त हिसा ों में छोटी हिंसा के योग से यदि बड़ी हिंसा छूट जाय तो जो बड़ी हिंसा छूट गई है उसे बुरी कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् छोटी योग से जो बड़ी हिंसा छूट गई वह बुरी नहीं हो सकती। ल्पारम्‍ के योग से महारम्भ छूट गया तो वह छूटा हुआ महारम्‍ बुरा नहीं कहा जा सकता ॥४२-४३॥

छोटी योग थी मोटी हिंसा,
छोड़े छोड़ावे रा ी।
निजनी नी रकोई नी,
ज्ञानी े बखाणे जी ॥ चतुर० ॥ ४४ ॥

इम मोटी हिंसा छोड़े छोड़ावे,
ते धर्म रो मारग जाणो जी।
तिण मांही जे बतावे,
ते पूरा मन्द याणो जी ॥ चतुर० ॥ ४५ ॥

भावार्थः—जो पुरुष छोटी हिंसा (अल्पारम्भ) के योग से

बड़ी हिंसा (महा-आरम्भ) को छोड़ता है, दूसरों से छुड़वाता है और छोड़ने वालों को भला जानता है। इस मार्ग को ज्ञानी शुद्ध कहते हैं। जिसने छोटी के योग से बड़ी हिंसा का त्याग कर दिया है अर्थात् अल्पारम्भ के योग से महारम्भ का त्याग कर दिया है तो उसका वह महारम्भ का त्याग धर्म मे है। उस महारम्भ के त्याग मे पाप बताना अज्ञानियों का कार्य है ॥४४-४५॥

पञ्चेन्द्रिय [illegible]रे [illegible] रे अर्थे,
तेनी हिंसा छोड़ावे अनेको जी।
अचित दिया में [illegible]प परूपे,
ते [illegible]बे[illegible] [illegible] विवे[illegible]ो जी ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

भावार्थः—कोई भूखा मांसाहारी पुरुष अपनी भूख मिटाने के लिए किसी बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय जीव को मार रहा है। कोई दयालु पु[illegible] उसकी हिसा छुड़ा कर बकरे की रक्षा कर देता है औ भूंगड़े (भूने हुए चने), रोटी आदि अचित्त पदार्थ देकर उसकी भूख मिटा देता है तो उसका यह कार्य धार्मिक कार्य है इस कार्य में जो पाप बताता है, उसे विवेकविकल समझना चाहिए। उसे धर्म और अधर्म का [illegible]छ भी ज्ञान नहीं है। ऐसा विवेक भ्रष्ट पुरुष अनन्त काल तक संसार समुद्र मे डुबकियाँ लगाता हुआ नरक निगोदादि के असह्य दुःखो को भोगता रहता है ॥४६॥

जीव बचायाँ में [illegible]प कहे [illegible],
कुयु[illegible] लगावे खोटी [illegible]ी।

ते रत्ता रा द्वेषी यूँ गोले,
ा ी रोटी ी ॥ तुर० ॥ ४ ॥

भावार्थः—मरते हुए प्राणी की प्राणरत्ता करने मे जो पाप कहता है और अपने इस मिथ्या सिद्धान्त की पुष्टि रने के लिए अनेक प्रकार की युि याँ गाता है वह रत्ताधर्म का द्वेषी अनार्य पुरुष है। उसमें साधुता तो नाम मात्र को भी नहीं है केवल रोटी का टुकड़ा मांग कर अपनी पेट भराई करने के ि ए उसने साधु का भेष पहन र ा है। अतः विवेकी रुषों को ऐसे नार्य, ढोंगी का संग भी न करना चाहिए ॥४ ॥

अनुकम्पा-दान में प परूपे,
त्यां री ी वहे रो जी।
पहर सांग साधाँ रो खे,
धि त्याँ रो वारो जी ॥ चतुर० ॥ ४८ ॥

भावार्थः—हीन, दीन, अनाथ, गरीब प्राणियो पर नु-कम्पा करके जो दान दिया जाता उस अनुकम्पा दान मे पाप बतलाने वाले पुरुष की जीभ तलवार के समान है अर्थात् जि प्रकार कसाई की तलवार बकरे आदि प्राणियो के प्राणो का हरण करती है उसी प्रकार अ कम्पा दान मे पाप बतलाने वाले पुरुष की जीभ भी उन दीन, हीन, अनाथ, गरीब प्राणियों के लिए तलवार का कार्य करती है। उन गरीबो के दान मे बा होकर वह पुरुष उनकी घात का भागी होता है। कसाई तो बकरे आदि तिर्यञ्चो की ही हिंसा करता है किन अनुकम्पा दान में पाप बताने वाला पुरुष तिर्य और गरीब म ष्यो के दान में

बाधक बन कर तिर्य और मनुष्य दोनों की हत्या का भागी बनता है। इसलिए वह कसाई से भी बढ़ कर निर्दयी है। ऐसा निर्दयी होकर भी जो लोगों को धोखे में डालने के लिए साधु का स्वा रच कर फिरे उस पुरुष का जन्म बारबार धिक्कार के योग्य है क्योकि ऐसा पुरुष अपने जन्मदाता माता पिता को भी धिक्कार दिलवाता है। इसलिए ऐसे पुत्र का न जन्मना तो अच्छा है किन्तु जो जन्म लेकर माता धिक्कार दिलावे ऐसे त्र का जन्म भी धिक्कार योग्य है ॥४८॥

धु रो विरुद धरावे लोकों में,
बाजे भगवन्त भक्ता जी।
जीव रक्षा में बतावे,
ती ागे लगता जी ॥ चतुर० ॥ ४६ ॥

जीव बचावा में परूपे,
ते जीव दया ने त्यागे जी।
तीन ाल री रक्षा ने निन्दी,
पहिलो महाव्रत भागे जी ॥ चतुर० ॥ ५० ॥

रक्षा में पाप तो जिनजी कह्यो नहीं,
पाप कह्यां झूठ ागे जी।
इसड़ा झूठ निरन्तर बोले,
त्याँ रो दूजो महाव्रत भागे जी ॥ चतुर० ॥ ५१ ॥

जीव बचाया पाप जो केवे,
वां जीवाँ री चोरी लागे जी।
वलि ाज्ञा लोपी श्री रिहंत नी,
तीजो महाव्रत भागे ी ॥ चतुर० ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जो पने आपको भगवान् श्री वीतराग देव भ नता है ौर ोगों में अपने आपको साधु कहता है यदि वह जीवरक्षा मे पाप बतलाता है तो उसके तीन महाव्रत होते हैं। तीन महाव्रत किस प्रकार भग्न होते हैं सो बतलाया जाता :—

जीवरक्षा में पाप बतलाने से साधु स्वयं जीवरक्षा को त्याग देता है तथा तीनों काल सम्बन्धी रक्षा की वह निन्दा करता है इसलिए उस ा पहला अहिंसा महाव्रत टूट जाता है। अहिंसा र्थ है—"किसी जीव को न मारना ौर मरते हुए प्राणी की रक्षा रना" अहिसा के जो साठ नाम बताये गये है वे निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के सूचक हैं अर्थात् किसी जीव को न ारना यह निवृत्ति रूप अहिंसा है और मरते ए प्राणी की प्राणरक्षा करना यह प्रवृत्ति रूप अहिंसा है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने जीवरक्षा में पाप नहीं बतलाया । इसलिए जो साधु जीवरक्षा में पाप बतलाता है उसे मृषावाद (झूठ) का दोष लगता है जिससे उसका दूसरा सत्य महा- टूट जाता है।

जो साधु जीवरक्षा मे पाप बतलाता है उसे रक्षा किये जाने वाले जीवो के अदत्त प्राणापहरण रूप चोरी लगती है और वह तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करता है इसलिए उ ा दत्तादान त्याग रूप तीसरा महाव्रत टूट जाता है।

इस प्रकार जीवरक्षा में पाप बतलाने वाले साधु के पहला, दूसरा और तीसरा ये तीनो महाव्रत एक साथ टूट जाते हैं ॥४६-५२॥

जीव बचावा में पाप बतावे,
ज्याँ री श्रद्धा घणी गन्धी जी ।
ते मोह मिथ्यात में जड़िया अज्ञानी,
त्याँ ने श्रद्धा न सूझे सूँधी जी ॥चतुर०॥ ५३ ॥

भावार्थः—जो लोग जीव बचाने मे पाप बताते हैं उनकी यह श्रद्धा अत्यन्त गन्दी है। वे जीव गाढ मिथ्यात्व मोहनीय से जकड़े हुए है इसीलिए उन बिचारे अज्ञानी जीवों को शुद्ध श्रद्धा नहीं सूझती है ॥५३॥

पू: चां कहे म्हें दयाधर्मी छाँ,
दया तो देही री रक्षा जी ।
तिण रक्षा में पाप बतावो,
थें दया री पाया शिक्षा जी॥ चतुर० ॥ ५४ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार यदि भ कर्मोदय से किसी का नाक कट जाय तो वह नकटा पुरुष वास्तव मे दया का पात्र है किन्तु इस पर भी वह नकटा यह कहे कि 'मै तो बड़ी सुन्दर नाक वाला हूँ, मेरे तो बहुत अच्छी लम्बी नाक है' तो उसका यह कथन क्या धृष्टतापूर्ण नहीं ? इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीवरक्षा सरीखे धर्म कार्य मे पाप बताने वाले बिचारे अज्ञानी जीव सचमुच दया के पात्र हैं किन्तु फिर भी वे अपने आपको दयाधर्मी कहे तो क्या उनका यह कथन

धृष्टता पूर्ण नहीं है ? दया नाम है प्राणियों की रक्षा करना । उस 'रक्षा' में जो पाप बताते हैं वे दयाधर्मी कैसे कहला सकते हैं ? जो दया-रक्षा में धर्म मानें वे ही दयाधर्मी कहला सकते हैं। जो दया-रक्षा में पाप बताते हैं उन्हें तो 'दया पापी' या 'दया उत्था-दक' कहना चाहिये। कुगुरुओं के चक्कर मे पड़ जाने से उन्हें दया-रक्षा की सच्ची शिक्षा नहीं मिली है ॥५४॥

जीवरक्षा ने दया नहीं माने,
ते निश्चय दया रा ी जी ।
त्यां दया हीन ने साधु श्रद्धे,
ते पि नि मिथ्याती जी ॥ च र० ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो जीवरक्षा रूप दया मे पाप बतलाता है वह दया की घात करने वाला है ऐसे दयाघाती को जो साधु मानता है वह मिथ्यात्वी है क्योकि मिथ्यात्व के दस भेदो में बतलाया गया है कि—" साधु को साधु श्रद्धे (माने) तो मिथ्यात्व।" जो जीवरक्षा मे पाप बताता है उसमे साधुत्व (साधुपना) तो हो ही कैसे सकता है ? ऐसे असाधु को जो साधु श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है ॥५५॥

(कहे) "साधु ने जी बचावणो नाहीं,
रक्षा ने भली णे ी ।"
रक्षा धर्म रा जा अज्ञानी,
इसड़ी चरचा आणे जी ॥ चतुर० ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जो साधु का वेष पहन कर यह कहता है कि

"साधु को मरते हुए प्राणी की रक्षा नहीं करना चाहिए और रक्षा करने वाले को भला भी न समझना चाहिए" ऐसा कहने वाला साधु के भेष को लजाता है। उसे रक्षा धर्म का ज्ञान नहीं है। इसीलिए वह 'रक्षा' मे पाप बताता है ॥५६॥

(कहे) "साधु तो जीवाँ ने क्यांने बचावे,
ते तो पच रह्या निज कर्मों जी।"
त्याँ रे लेखे श्री जीवदया रो,
उपदेशणो नहीं धर्मो जी ॥ चतुर० ॥ ५७ ॥

जीव मारे ते में पचे छै,
उपदेशे केम छुड़ाओ जी।
जद कहे बन्ध टलावाँ,
तो मरे तेना क्यों टलाओ जी ॥ चतुर० ॥ ५८ ॥

प मं करता थी बचावे,
तिण में तो करुणा बतावो जी।
मरण वालो पिण पाप थी बचियो,
ते ी रुणा में पाप क्यों गावो जी ॥ चतुर० ॥ ५९ ॥

हिंसक करुणा में धर्म बतावे,
मरणे वाला री में पापो जी।
या ोटी श्रद्धा परत दीसे,
जे थापे ते पामे न्त ो जी ॥ चतुर० ॥ ६० ॥

भावार्थः—भीषण मतानुयायी साधु कहते हैं कि—साधु को कष्ट पाते हुए अथवा मरते हुए प्राणी की रक्षा नहीं करना चाहिए क्योंकि वह तो अपने कर्मो से पच रहा है अर्थात् अपने कर्मों से दुःख पा रहा है।

उनसे पूछना चाहिए कि तुम (भीषण मतानुयायी साधु) हिंसक को हिंसा छोड़ने के लिए उपदेश क्यो देते हो? क्योंकि वह जीवों की हिंसा करता है तो वह अपने ही कर्मों से पचता है।

इस पर यदि वे लोग यह उत्तर दें कि "हम तो हिंसक का कर्मबन्ध टलाने के लिए अर्थात् हिंसा से होने वाले कर्मबन्ध से उसे बचाने के लिए उपदेश देते हैं तो उनसे कहना चाहिए कि जिस प्रकार हिंसक को कर्मबन्ध से बचाने के लिए तुम उपदेश देते हो उसी प्रकार हिंसक के हाथ से मारा जाने वाला बकरा आर्त्त रौद्र ध्यान कर कर्मबन्ध करता है उस मारे जाने वाले प्राणी के कर्मबन्ध को टलाने के लिए अर्थात् उसे कर्मबन्ध से बचाने के लिए उपदेश क्यो नही देते? हिंसक के कर्मबन्ध को टालने के लिए उपदेश देने में तुम धर्म मानते हो तो उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के कर्मबन्ध को टालने के लिए उपदेश देने मे तुम पाप क्यो बताते हो? जिस प्रकार हिंसक हिंसा के पाप से बच जाता है उसी प्रकार उसके हाथ से मारा जाने वाला प्राणी आर्त्त रौद्र ध्यान से होने वाले कर्मबन्ध से बच जाता है फिर हिंसक की करुणा मे अर्थात् उसके कर्मवन्ध को टलाने में धर्म मानना और हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की करुणा मे अर्थात् उसके आर्त्त रौद्र ध्यान सम्बन्धी कर्मबन्ध टलाने मे पाप मानना कैसे संगत हो सकता है? दोनो का अर्थात् हिंसक का और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणी का दोनो जीवों का

कर्मबन्ध टलाने का कार्य समान है इसलिए दोनों के कर्मबन्ध टलाने के कार्य मे उन लोगों को धर्म मानना चाहिए। एक के कर्मबन्ध टलाने मे धर्म मानना और दूसरे के कर्मबन्ध टलाने में पाप मानना, युक्ति सगत नहीं है ॥५७-६०॥

(हे) छ काया रा शत्रु जीव अव्रती,
जीवणो मरणो न चावे जी।
तो पाणी थी उन्दर माखा काढो,
थारी श्रद्धा खोटी थावे जी ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि जो जीव अव्रती हैं ये छः काया के शत्रु हैं उनका जीना और मरना हम नहीं चाहते है। तब उन लोगो से पूछना चाहिये कि तुम अपने (भीषण मतानुयायी साधुओ के) जल के पात्र मे पड़ी हुई मक्खी तथा चूहे आदि को बाहर निकाल कर क्यो बचाते हो ? क्योकि जीवों की रक्षा करने से तुम्हारी श्रद्धा मे दोष आता है ॥६१॥

(कहे) "म्हें तो जीवणो मरणो न चावाँ,
पाप टालणो चावाँ जी।
(उत्तर) तो जीवरक्षा पिण पाप टालण में,
स्व-पर नो पाप बचावां जी ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस पर यदि वे लोग यह कहे कि 'हम तो हमारे पात्र मे पड़ी हुई मक्खी चूहे आदि जीवो का जीना मरना नहीं चाहते हैं और न उनकी रक्षा करना ही चाहते है किन्तु यदि वे हमारे पात्र मे मर जाँय तो हमे पाप लगता है इसलिए हम

अपना पाप टालने के लिए उन्हे बाहर निकालते हैं तो उनसे कहना चाहिए कि जीवरक्षा भी पाप टालने मे ही है। जिस प्रकार अपना पाप टाला जाता है उसी प्रकार मरने वाले जीव की रक्षा करने से उसका भी आर्त्तरौद्रध्यान सम्बन्धी पाप ट जाता है। इस प्रकार जीव रक्षा करने से स्व और पर दोनो । पाप टल जाता है। इसलिए जीवरक्षा मे पाप बताना अज्ञानता है। ॥६२॥

मारण ने मरणे वाला रो,
पाप छोड़ावाँ बचावाँ जी।
मरणे वाला री दया किया सूं,
घा रा पाप छुड़ावाँ जी ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥

भावार्थ:—हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी को बचाने से उसकी प्राणरक्षा हो जाती है और हिसक हिंसा के पास से बच जाता है। इस प्रकार जीवरक्षा से दुगुना लाभ है। जीवरक्षा करने से उस मारे जाने वाले प्राणी का और हिंसक का दोनो का पाप टल जाता है ॥ ३॥

जीव गरीब थ दु ी री,
अनुकम्पा जिनजी बताई जी।
त्याँ ने बचावा में पाप बतावे,
या श्रद्धा दु दाई जी ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

भावार्थ:—गरीब, दीन, अनाथ दुःखी प्राणियो पर अनुकम्पा करना तीर्थ र भगवान् ने फरमाया है इसलिए उन पर

अनुकम्पा करने से एवं उनकी रक्षा करने में पाप बताना तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करना है ॥६४॥

जीवाँ री हिंसा असंजम जीतव,
ते तो नि नहीं चावे जी ।
जीवों री रक्षा संजम जीतव,
ते चावे गुण पावे जी ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

भावार्थः—जीवो की हिसा करना असंयस जीवन है ऐसे असंयम जीवन की मुनि इच्छा नहीं करते अर्थात् मुनि हिंसा नही करते किन्तु जीवो की रक्षा करना संयम जीवन है। ऐसे संयम जीवन को मुनि चाहते हैं। सयम जीवन पूर्वक जीने से मुनि के ज्ञान दर्शन चारित्र रूप गुणो की वृद्धि होती है ॥६५॥

जीवों री हिंसा असंजम जीतव,
त्याग सूतर में आया जी ।
जीव रक्षा रा त्याग न चाल्या,
जीव रक्षा रा गुण गाया जी ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जीवो की हिसा करना असंयम जीवन है। ऐसे असयम जीवन का त्याग करना शास्त्र मे बतलाया गया है किन्तु जीवरक्षा का त्याग करना किसी भी शास्त्र में नही बतलाया गया है प्रत्युत श्री तीर्थङ्कर देवो ने जीवरक्षा के गुण बतलाये है। अतः जीवरक्षा मे पाप बताना तीर्थङ्कर देवो की आज्ञा की आशातना करना है ॥६६॥

जीवों री रक्षा में पाप होतो तो,
रक्षा रा त्याग राता जी ।

रक्षा में तो बहु धर्म ब ायो,
जीवरक्षा जिन चाता जी ॥ चतुर० ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार हिंसा करना पाप है तो उसका त्याग कराया जाता है उसी प्रकार यदि जीवरक्षा मे पाप होता तो उसका भी त्याग कराया जाता किन्तु किसी भी शा मे जीवरक्षा का त्याग करना नही बतलाया गया है। जीवरक्षा मे बहुत धर्म बतलाया गया है और स्वयं तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने गोशालक की प्राणरक्षा करके संसार के सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि जीवरक्षा करना महा धर्म है ॥६७॥

त्रिविधे त्रिविधे नि त्राता कहिये,
त्राता रक्षक जाणो जी।
: ाया रा पीयर साधु,
रक्षा रो गुण पिछाणो जी ॥ चतुर० ॥ ६८ ॥

भावार्थः—मुनि तीन करण तीन योग से छः काय जीवों का त्राता कहलाता है। त्राता का अर्थ है:—

"त्रायते रक्षतीति त्राता"

अर्थात्:—जो छः काय जीवो की रक्षा करता है वह त्राता-रक्षक कहलाता है। रक्षक होने कारण ही मुनि छः काय जीवो के पीहर कहलाते है ॥

यदि कोई यह कहे कि छ काय जीवो को न मारना ही रक्षा है और उन्हे न मारने के कारण मुनि रक्षक कहलाता

है तो उसका यह कथन मिथ्या है क्योंकि 'जीवों को न मारना' इतना ही अहिंसा का अर्थ नहीं है। यह अर्थ अधूरा है। किसी जीव को न मारना और मरते हुवे जीव की रक्षा करना यह अहिंसा का पूर्ण अर्थ है और इसीलिए मुनि अहिंसक एवं रक्षक कहलाता है ॥६८॥

मरता जीव ने कोई बचावे,
ज्याँ में पाप बतावे जी ।
ते पाप बतायाँ समकित नासे,
ज्याँ रा मूल उत्तर व्रत जावे जी ॥ चतुर० ॥६६ ॥

भावार्थः—मरते प्राणी की प्राणरक्षा करने मे जो पाप बतलाता है। उसके समकित गुण का नाश होता है क्योंकि श्री तीर्थङ्कर देवो ने जीवरक्षा मे धर्म बतलाया है। उनके कथन के विपरीत श्रद्धान करने से यानी जीवरक्षा मे पाप बताने से समकित गुण का नाश होकर मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। जिसमे समकित गुण नही है उसमे मूल गुण और उत्तर गुण तो पाये ही कैसे जा सकते है ? उसके समकित गुण के विनाश के साथ ही उसके मूलगुण और उत्तरगुणो का भी विनाश हो जाता है ॥६६॥

(जो कहे) त्रिविधे त्रिविधे जीवरक्षा न करणी,
तो हिंसक री हिंसा छोड़ायाँ जी ।
मरता जीवाँ री रक्षा होसी,
थारी श्रद्धा सूं पाप कमाया जी ॥ चतुर० ॥ ७० ॥

भावार्थ:—जो लोग यह कहते हैं कि "तीन करण तीन योग से जीवरक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीवरक्षा करना पाप है।" उनकी इस मान्यतानुसार उन्हे हिंसक को उपदेश देकर उसकी हिंसा छुड़ाने से भी पाप लगेगा क्योंकि मान लीजिये उनका उपदेश सुनकर यदि हिंसक हिंसा छोड़ देगा अर्थात् जीवो को न मारेगा तो उन जीवो की रक्षा हो जायगी और रक्षा करने मे तो वे पाप मानते है ऐसी दशा मे उपदेश द्वारा हिंसक की हिंसा छुड़ाने से भी वे अपनी मान्यतानुसार पाप के भागी होंगे ॥७०॥

बीच में पड़ पाप ाय छो ावणो,
इसड़ो थें धर्म ब ावो जी।
तो हिंसक पाप रे तिण बीच में,
उपदेश देण क्यों जावो जी ॥ चतुर० ॥ ७१ ॥

भावार्थ:—उन लोगो से पूछना चाहिए कि 'तुम लोग ऐसा कहते हो कि—यदि कोई पाप कर रहा हो तो उसके बीच मे न पड़ना चाहिए अर्थात् उसे न रोकना चाहिए। जैसा कि तुम लोग उदाहरण देते हो कि 'यदि कोई बिल्ली चूहे को मारने के लिए झपटती हो तो उसे नहीं रोकना चाहिए।' जब यह तुम प्ररूपणा करते हो तब हिंसक जो पाप कर रहा है उसे उपदेश क्यो देते हो? उसके बीच मे पड़ कर उसे पाप करने से क्यो रोकते हो? ॥७०॥

: ारण जीवहिंसा रे कोई,
· हित अबोध ते पावे जी।

जीवरक्षा थी समकित पावे ।
अहित त्रिकाल न थावे जी ॥ चतुर० ॥ ७२ ॥

भावार्थः—शास्त्र मे कहा गया है कि छः कारणों से की गई जीव हिंसा अहित और अबोधि के लिए होती है अर्थात् जीव हिंसा से अहित होता है और अबोधि यानी समकित का नाश होता है किन्तु जीवरक्षा से कदापि त्रिकाल मे भी अहित नही होता है ॥७२॥

जीवहिंसा प्रभु खोटी बताई,
कर्मों री गांठ बंधावेजी ।
जीवरक्षा प्रभु आछी भाखी,
सबन्ध खपावेजी ॥ चतुर० ॥ ७३ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने जीव हिंसा को बुरा बतलाया है । जीव हिंसा से कर्मों का बन्ध होता है किन्तु जीवरक्षा को तीर्थङ्कर भगवान् ने अच्छा बतलाया है । जीवरक्षा से कर्मों का क्षय होता है ॥७३॥

हिंसा माहीं धर्म श्रद्धे तो,
बोध बीज रो नाशो जी ।
जीवरक्षा में पाप बतावे,
मिथ्यात में होवे वासो जी ॥ चतुर० ॥ ७४ ॥

भावार्थः—यदि कोई जीव हिंसा मे धर्म माने तो उसके सम्यक्त्व रत्न का नाश होता है और जो पुरुष जीवरक्षा मे पाप

बताता है वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है क्योंकि मिथ्यात्व के दस भेदों मे बताया गया है कि:—

'धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व' ।

जीवरक्षा धर्म का कार्य है। अतः उसमे अधर्म (पाप) मानने वाला मिथ्यात्व को प्राप्त होता है ॥७४॥

प्राणी जीवने दुः जो देवे,
ते दुःख पामे संसारो ी ।
अनुकम्पा कर दुः छुड़ावे,
सुख पावा रो विस्तारो जी ॥ च र० ॥ ७५ ॥

भावार्थ:—प्राणी भूत जीव सत्त्व को जो दुः देता है वह इस संसार मे दुःख पाता है और जो पुरुष प्राणी भूत जीव सत्त्व की अनुकम्पा कर उनको दुःख से छुड़ाता है वह सुख पाता है। श्री भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा ६ मे वेदनीय कर्म उपार्जन करने के दस बोल कहे गये हैं। उनमे पहले के चार बोल ये है:—

(१) प्राणियों की अर्थात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियो की अनुकम्पा करने से,
(२) भूत अर्थात् वनस्पतिकाय की अनुकम्पा करने से,
(३) जीवो की अर्थात् पञ्चेन्द्रिय जीवो की अनुकम्पा करने से और
(४) सत्त्व अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, और वायुकाय इन चार स्थावरो की अनुकम्पा करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है ।

इस प्रकार शा ो मे अनुकम्पा रूप धर्म का शुभ फल बतलाया गया है ॥७५॥

कोई साधु नाम धराय करे छै,
जीवरक्षा में पाप री थापो जी ।
(कहे) "प्राण भूत जीव ने सत्त्व,
रक्षा में एकंत पापो जी" ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

ऊंधी प्ररूपणा करे अज्ञानी,
ज्ञानी बोल्या घर प्रेमो जी ।
थाँ भूँडो दी , भूँडो सांभलियो,
भूँडो जाण्यो एमो जी ॥ चतुर० ॥ ७७ ॥

भावार्थः—कितनेक साधु नाम धराकर जीवरक्षा मे पाप की स्थापना करते हैं। वे कहते है कि "प्राणी भूत जीव सत्त्व की रक्षा करने मे एकान्त पाप होता है"। इस प्रकार जिनमार्ग से विपरीत प्ररूपणा करने वाले अज्ञानी जीवो को ज्ञानी पुरुष प्रेम पूर्वक कहते हैं कि—

"एयं दुदिट्ठं दुस्सुयं दुराणायं"

अर्थात्:—जीवरक्षा मे पाप की प्ररूपणा करना तुमने खोटा देखा है, खोटा सुना है और खोटा जाना है। यह तुम्हारी प्ररूपणा अच्छी नही है। तुमने शास्त्रो को अच्छी तरह नही देखा है, अच्छी तरह नहीं सुना है और अच्छी तरह उनके तत्त्वो को नहीं समझा है। शास्त्रकारो ने जीवरक्षा को परम धर्म बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि:—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं'

अर्थात्:—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं।

भगवान ने जीवरक्षा का इ ा महत्त्व बताया है कि जीवरक्षा रूप धर्म का प्रतिपादन करने के लिए ही जैनागमो की रचना हुई है। अतः जीवरक्षा मे पाप बताना अनन्त तीर्थ रों के वचनो की आशातना करना है ॥७६–७७॥

जीव बचायां पाप परूपे,
या मूरख नर री ाणी जी।
से ारीकर्मी जीव मिथ्याती,
शुद्ध द्धि हिं पिछाणी जी ॥चतुर० ॥ ७८ ॥

भावार्थ:—'जीवरक्षा करना पाप है' यह प्ररूपणा मूर्खता पूर्ण है। ऐसे भारीकर्मा मिथ्यात्वी जीव को सद्ज्ञान प्राप्त नही हुआ है इसीलिए अज्ञानता के कारण वह जीवरक्षा रूप परम धर्म के कार्य मे पाप बताता है ॥७८॥

त्याँ निरदयी ने आरज पूछ्यो,
ाँ ने बचायां धर्म के पापो जी।
तब कहे "म्हाँने बचायां धरम ,"
सांच बोल ने ीधी थापो जी ॥ चतुर० ॥ ७६ ॥

भावार्थ:—जीवरक्षा मे पाप बताने वाले निर्दयी लोगो से किसी आर्य पुरुष ने पूछा कि "यदि तुम्हे कोई मार रहा हो तब उस हिंसक के हाथ से तुम्हे कोई बचा दे तो धर्म होता है या

पाप ?" "तब तो वे झट उत्तर देते हैं कि हम को बचाने से तो धर्म होता है" ॥ ७६ ॥

थाँ ने बचाया थें धरम जो श्रद्धो,
तो सर्व जीवाँ रो इम जाणो जी ।
औरां ने बचायां पाप परूपो,
थें ओटी क्यों करो ताणो जी ॥ चतुर ॥ ८० ॥

भावार्थः- उनका उपरोक्त उत्तर सुन कर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि–"जिस प्रकार तुम यह मानते हो कि तुम्हें बचाने से धर्म होता है उसी प्रकार सब जीवो के लिए भी तुम्हे ऐसा ही मानना चाहिए कि उन्हे बचाने से भी धर्म होता है, । क्यो कि कहा है:–

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः, भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु, दयां र्वन्ति ाधवः ॥

अर्थात् :- जिस प्रकार अपने प्राण अपने को प्यारे हैं उसी प्रकार संसार के समस्त जीवो को भी अपने अपने प्राण प्यारे है इस प्रकार सब जीवो कोआत्मवत् समझकर साधु पुरुष उन पर दया करते है ॥

अब वे लोग अपने को बचाने मे धर्म मानते है तो दूसरे जीवो को बचाने मे भी उन्हे धर्म मानना चाहिए। दूसरे जीवो की रक्षा करने मे पाप की प्ररूपणा करना निर्दयी पुरुषो का कार्य है ॥८०॥

रक्षा में पाप बतावे त्यां ने,
कीधा धर्म सूं न्यारा जी ।

ंग उपांग रा मू पाठ में,

गणधरजी विस्ताराजी ॥ चतुर० ॥ ८१ ॥

भावार्थः—प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार मे कहा है किः—

'व्वजगजीवरव णदयट्ठयाए पावयणं भगव ।सुकहियं'

अर्थात्:—समस्त जगत् के जीवो की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हैं।

इस प्रकार दूसरे सभी अंग उपाङ्ग सूत्रो मे जीवरक्षा का माहात्म्य बतलाया गया है। जीवरक्षा मे पाप बतलाने वाले धर्म से विमुख है अर्थात् वे अधर्मी एवं मिथ्यात्वी है॥८१॥

पर ने बचायां पाप परूपे,

निज ने बचाया में ध र्मे जी।

या श्रद्धा वि लां री ऊंधी,

नहीं जाणे पूरो मर्मो जी ॥ चतुर० ॥ ८२ ॥

भावार्थः—जो अपने को बचाने मे धर्म मानते है किन्तु दूसरे जीवों को बचाने मे पाप कहते है वे स्वार्थी लोग है। वे धर्म के मर्म को नहीं जानते है। धर्म तो यह बतलाता है कि;—

" त्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः"

अर्थात्:—संसार के समस्त प्राणियो को आत्मवत् (अपने समान) समझो। सब जीवो को आत्मवत् समझने वाला पुरुष ही पण्डित पुरुष है। और भी कहा है कि:—

"आत : प्रतिकूलानि परे समाचरेत्"

अर्थात्:—जो व्यवहार अपनी आत्मा को अच्छा न लगे वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति भी न करे किन्तु जो व्यवहार अपनी आत्मा को अच्छा लगे वैसा व्यवहार दूसरो के प्रति भी करे। यही धर्म का सार है ॥८२॥

अर्थ अनर्थ धर्म रे काजे,
हिंसा ने हिंसा जाणे जी।
त्याँ ने शुद्ध समदृष्टि कहिये,
जिन आगम यों बखाणे जी ॥ चतुर० ॥ ८३ ॥

भावार्थ:—जैन शास्त्रों मे बतलाया गया है कि अर्थ (प्रयोजन वश) अनर्थ (बिना प्रयोजन) और धर्म के निमित्त होने वाली हिंसा को जो हिंसा समझता है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष है ॥८३॥

(कहे धर्म रे काज आरम्भ करे तो,
समकित रत्न गमावे जी।
(उत्तर) तो साधुवन्दणा ने आरम्भ करता,
हण्यां हण्यां क्यों जावे जी ॥ चतुर० ॥ ८४ ॥

साधु रो वन्दणा धर्म रो कारज,
ते आरम्भ धर्म रे काजे जी।
वन्दणा काज आरम्भ करे त्यां ने,
'मिथ्याती' कहता क्यों लाजे जी ॥ चतुर० ॥ ८५ ॥

भावार्थः—जो लोग यह कहते हैं कि धर्म के निमित्त आरम्भ करने वाला पुरुष अपने समकित रत्न को गंवाता है तो उन लोगों से पूछना चाहिए कि तुम्हारे भक्त श्रावक तुम साधुओं को वन्दना करने के लिए आरम्भ करके हर्षित होते हुए क्यों आते हैं ? क्योंकि साधुवन्दन धर्म का कार्य है। आने जाने आदि का जो आरम्भ होता है वह साधुवन्दन रूप धर्म कार्य के लिए ही किया जाता है। फिर आप उन भक्त श्रावकों को समकित रत्न गंवाने वाले मिथ्यात्वी क्यो नहीं कहते ? क्योंकि आपके सिद्धान्तानुसार धर्म के निमित्त आरम्भ करने वाला समकित रत्न गवाने वाला मिथ्यात्वी है ॥८४-८५॥

(कहें) न्दन जे रम्भ कीधो,
ते आरम्भ ोटो जाणे जी।
ारम्भ करने दर्श ीधा,
ते दर्शन धर्म पि ाणे जी ॥ च र० ॥ ८६ ॥

जो आरम्भ ने धर्म में जाणे,
री श्रद्धा खोटी जी।
आरम्भ ने आरम्भ पिछाणे,
दर्श शुद्ध कसोटी जी ॥ चतुर० ॥ ८७ ॥

भावार्थः—तब तो वे कहते है कि दर्शन एव वन्दन के लिए आने जाने आदि का जो आरम्भ किया जाता है वह तो बुरा है अर्थात् वह पाप है किन्तु आरम्भ करके जो दर्शन एवं वन्दन किया गया है वह धर्म का कार्य है।

यही बात उन्हें जीवरक्षा के विषय में भी माननी चाहिए कि जीवरक्षा करते समय जो आरम्भ होता है वह पाप में है किन्तु जीवरक्षा धर्म का कार्य है। जिस प्रकार आरम्भ अलग और दर्शन एवं वन्दन अलग है उसी प्रकार आरम्भ अलग है और जीवरक्षा रूप अनुकम्पा अलग है और जिस प्रकार आने जाने की क्रिया रूप आरम्भ के सावद्य होने पर भी दर्शन एवं वन्दन सावद्य नही है उसी प्रकार जीवरक्षा के निमित्त होने वाले आरम्भ के सावद्य होने पर भी जीवरक्षा रूप अनुकम्पा सावद्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो आरम्भ को आरम्भ समझता है और धर्म को धर्म समझता है तथा आरम्भ को अलग और धर्म को उसे अलग समझता है उसकी श्रद्धा सम्यक् है किन्तु जो आरम्भ की क्रिया को धर्म के साथ जोड़कर उस धर्म के कार्य को पाप बताता है उसकी श्रद्धा मिथ्या है ॥८६-८७॥

पोता री सेवा रो लोभ धरी ने,
भोलां ने यों भरमावो जी।
श्रावक वत्सलता ने उठावा,
थें इसड़ी गाथा क्यों गावो जी ॥ चतुर० ॥ ८८ ॥

(कहे) छः काय जीवाँ रो घमसाण करने,
श्राव ने जीमावे जी।
उणाने मन्दबुद्धि कह दियो भगवन्ते,
तिण ने धर्म किसी विध थावे जी ॥ चतुर० ॥ ८९ ॥

भावार्थः—उन लोगो से पूछना चाहिए कि तुम लोग अपनी सेवा के लालची बन कर अपने भक्त श्रावको को 'रास्ते

की सेवा' का महान् लाभ बता कर अपने विहार के समय रास्ते में उन्हे साथ रखते हो जिससे तुम्हें आहार पानी आदि की किसी प्रकार की तकलीफ न उठानी पड़े। अपने सुख और सुविधा के लिए तो तुम लोग इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' का महान्न लाभ बताते हो और स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता को उठाने के लिए उसमे पाप बताते हो और कहते हो कि 'छः काय जीवो का आरम्भ करके जो श्रावक को अपने घर भोजन कराता है वह मन्द बुद्धि है उसे धर्म नहीं होता'। इस प्रकार स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता मे पाप क्यों बतलाते हो ? ॥८८-८९॥

(उत्तर) जो ाय जीवां रो घम ा रने,
ाधु ने वन्दण आवे जी।
उणाने मन्दबुद्धि थें मानो, ?
थारे धर्म ि ी विध थावे जी ॥ च र० ॥ ९० ॥

भावार्थ:—जो छः काय जीवों का आरम्भ करके स्वधर्मी वत्सलता करता है अर्थात् श्रावक को अपने घर जीमाता (भोजन्न कराता) है उसे तुम मन्दबुद्धि कहते हो तो फिर छः काय जीवो का आरम्भ करके अर्थात् आने जाने आदि की क्रिया करके तुम्हारे दर्शन करने के लिए आता है उसे मन्दबुद्धि ो नहीं कहते ? उसे धर्म होना क्यो कहते हो ? उसे भी पाप होना क्यों नहीं कहते ? ॥९०॥

(कहे) आरम्भ ारज न्द बुद्धि में,
वन्दन व ो आछो जी।

(तो) श्र वत्सलता थी जिमावे,
तिण रो उत्तर देवो सांचो जी ॥ चतुर० ॥ ६१ ॥

भावार्थः—तब वे उत्तर देते हैं कि जो साधुदर्शन एवं वन्दन के लिए आरम्भादि करता है वह आरम्भ तो बुरा (पाप) है किन्तु उसका वन्दन भाव अच्छा है अर्थात् वन्दनभाव धर्म में है। तब उन्हे पूछना चाहिए कि जो पुरुष स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता से श्रावक को जीमाता है उसे क्या होता है? धर्म होता है या पाप? शुद्ध हृदय से इसका उत्तर दो ॥६१॥

(कहे) "सा र्मी वत्स ता जाणी,
श्राव ने जिमावे जी।
तिण में ए ान्त पाप बतावाँ,
धर्म श्रद्धे तो मकित जावे जी ॥ चतुर० ॥ ६२ ॥

भावार्थः—तब वे लोग उपरोक्त प्रश्न का यह जवाब देते हैं कि स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता जान कर जो श्रावक को अपने घर जीमाता है उसे पाप होता है। इस कार्य मे यानी स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता मे जो धर्म मानता है उसके समकित रत्न का नाश होता है" इस प्रकार वे स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता को पाप मे बताते हैं ॥६२॥

(उत्तर) या श्रद्धा थाँरी प्रत्यक्ष ोटी,
वन्दन रा थें भूखा जी।
तिण हेते आरम्भ रे जद,
भाव बतावो चो जी ॥ चतुर० ॥ ६३ ॥

भावार्थ'—तब ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि तुम्हारी यह श्रद्धा प्रत्यक्ष खोटी है। इससे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि 'तुम वन्दना के भूखे हो, वन्दना के लोलुपी हो। इसलिए तुम्हारी वन्दना के निमित्त किये जाने वाले आरम्भ के विषय मे तो कहते हो कि उसके भाव अच्छे है। आरम्भ का उसे पाप लगता है किन्तु वन्दना का उसे धर्म होता है। जिस प्रकार तुम अपनी वन्दना के विषय मे मानते हो उसी प्रकार स्वधर्मी वत्सलता के लिए भी मानना चाहिए कि आरम्भ का उसे पाप लगता है किन्तु स्वधर्मी वत्सलता धर्म का कार्य है इसलिए स्वधर्मी वत्सलता का उसे धर्म होता है ॥६३॥

ाधर्मी वत्सलता मोटी,
समकित रो ाचारो ी।
तिण में एकान्त पाप बतावो,
मिथ्या थारो व्यवहारो जी ॥ चतुर० ॥ ६४ ॥

भावार्थः—उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवे अध्ययन मे समकित के आठ आचार बताये गये है। यथाः—

निस्सं निक्कंखिय, निव्वि गिच्छा मूढदिट्ठी ।
उ वूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥

(उत्तरा० अध्य० २८ गाथा ३१)

इस गाथा में समकित के आठ आचार बताये गये है। उनमे सातवां आचार है—वत्सलता। अर्थात् अपने स्वधर्मी श्रावक की वत्सलता करना समकित का आचार है इससे समकित की पुष्टि होती है, समकित रूप गुण दृढ़ होता है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने तो स्वधर्मी वत्सलता को समकित का आचार बतलाया है तुम (तेरह पन्थी) लोग उससे पाप बताते हो तथा इससे (स्वधर्मी वत्सलता से) समकित का विनाश होना कहते हो। क्या तुम्हारा यह कथन भगवान की आज्ञा से तथा शास्त्रो से विपरीत नही है ? यह तो प्रत्यक्ष ही भगवान् की आज्ञा से तथा शास्त्रो से विपरीत है, मिथ्या है ॥६४॥

वन्दन आरम्भ वत्सल आरम्भ,
दोनों सरीखा जाणो जी।
वन्दन ाव निर्म भाखो,
वत्सल खोटा क्यों मानो जी ॥ चतुर० ॥ ६५ ॥

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष कहते है कि जिस प्रकार वन्दना के निमित्त आरम्भ होता है उसी प्रकार स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता के निमित्त भी आरम्भ होता है। दोनो जगह आरम्भ का कार्य समान है फिर जिस प्रकार तुम (तेरह पन्थी) लोग वन्दन को धर्म मे मानते हो उसी प्रकार स्वधर्मी वत्सलता को भी धर्म मे क्यो नही मानते ? स्वधर्मी वत्सलता मे पाप क्यो बतलाते हो ? आरम्भ तो दोनो जगह समान है फिर वन्दना को तो धर्म मे कहना और स्वधर्मी वत्सलता को पाप मे बताने का क्या कारण है ? ॥६५॥

ज्ञानी तो दोनों ही सरीखा जाणे,
थाँ ने ज्वाब न आवे जी।
एक ने थापे ने एक उथापे,
ते मूरख ने भरमावे जी ॥ चतुर० ॥ ६६ ॥

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष तो दोनो को समान समझते हैं अर्थात् जिस प्रकार वन्दन को धर्म मे समझते हैं उसी प्रकार स्वधर्मी वत्सलता को भी धर्म मे समझते है किन्तु जो लोग वन्दना के भूखे है, वन्दना के लोलुपी हैं और स्वधर्मी वत्सलता के द्वेषी हैं वे लोग वन्दना को तो धर्म मे बतलाते हैं और स्वधर्मी वत्सलता को पाप मे बतलाते है। परन्तु ऐसे वन्दना लोलुपी, स्वार्थी लोगो की बात को वही मानता है जो मूर्ख होता है। विद्वान् पुरुष तो उनकी स्वार्थ पूर्ण बातो को तत्काल पहचान लेता है और उन्हें मिथ्या अतएव हेय समझ कर त्याग देता है ॥९६॥

कोई तो जीवाँ ने मरता बचावे,
 कोई करे सेवा साधर्मी जी।
ति में ए न्त पाप ब वे,
 ते ए ान्त मिथ्या र्मी ी ॥ चतुर० ॥ ९७ ॥

भावार्थः—कोई दयालु पुरुष मरते हुए प्राणियो की प्राण रक्षा करता है और कोई पुरुष स्वधर्मी (श्रावक) वत्सलता रूप सेवा करता है। ये दोनो अर्थात् जीवरक्षा और स्वधर्मी वत्सलता दोनो धर्म के कार्य हैं। इनमे एकान्त पाप ब ाने वाला मिथ्यात्वी है ॥९७॥

कोई जी ाँ रा दुः मेट्या में,
 एकान प बतावे जी।
त्याँ ने जाण ि ले जिन-धर्म रो,
 ि विध ारग ावे जी ॥ चतुर० ॥ ९८ ॥

भावार्थ:—कोई दयालु पुरुष दुःखी प्राणियों के दुः को मिटाता है उसमे जो लोग एकान्त पाप बतलाते हैं उन्हे जब जिनधर्म का ज्ञाता पुरुष मिलता है तब वह उन्हे किस प्रकार समझा कर सत्य मार्ग पर लाता है जिसके लिए यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है ॥६८॥

लोह रो गो गो अग्नि तपायो,
ते अग्नि वर्ण र तातो जी ।
पकड़ सं । गो लायो तिण पासे,
बलतो गोलो झेलो हाथो जी ॥ च र० ॥ ६६ ॥

(जब) दया हीण हाथ पाछो खेंच्यो,
तब जाण पुरुष कहे त्याँने जी ।
थें हाथ पाछो खींचो किण रण,
थारी श्रद्धा मत रा गो छाने जी ॥ चतुर० ॥ १०० ॥

जद कहे गोलो म्हें हाथ में ल्याँ तो,
हाथ बले दुःख पावाँ जी ।
(तो थारा) हाथ बालता ने जो म्हें वरजाँ,
तो धर्मी के पापी कहावां जी ॥ चतुर० ॥ १०१ ॥

(कहे) "(म्हारा) हाथ बालता ने जो कोई वरजे,
तिण ने होसी धर्मो जी ।

तो दूजा रा हाथ बालता ने वरजे,
ते में क्यों कहो अधर्मो जी ॥ च र० ॥ १०२ ॥

इम सर्व जीव थें सरी जाणो,
थें सोच देखो मन माँई जी ।
दुः मेट में प बतावा री,
कुबुद्धि तजो दुः दाई जी ॥ चतुर० ॥ १०३ ॥

भावार्थः—किसी एक हिंसक पुरुष ने एक लोहे के गोले को अग्नि मे डाल कर खूब तपाया। जब वह गोला तपकर ग्नि के समान लाल हो गया तब उस गोले को संडासी मे पकड़ कर उस दयाहीन पुरुष के पास लाया, जो दूसरे जीवो के दुःख को मिटाने में पाप मानता था। वह उससे कहने लगा कि इस गोले को हाथ मे लो। तब वह दयाहीन (दूसरे जीवो के दुःख मिटाने मे पाप मानने वाला) पुरुष अपने हाथ को पीछे खीचने लगा। वहीं पर जिन धर्म का ज्ञाता (दूसरे जीवों के दुःख को मिटाने में धर्म मानने वाला पुरुष) एक पुरुष खड़ा था। वह उस दयाहीन को हाथ पीछे खींचते देखकर उससे कहने लगा कि—"तुम अपने हाथ पीछे ों खींचते हो ? तुम्हारे मन मे जो बात हो सो स्पष्ट कहो।" तब वह दयाहीन पुरुष कहने लगा कि यदि मै इस गोले को अपने हाथो मे लूँ तो मेरे हाथ जल जाएँगे जिससे मुझे अत्यन्त दुः होगा। तब वह जिन-धर्म का ज्ञाता पुरुष कहने लगा कि यदि मै इस हिंसक पुरुष को तुम्हारे हाथ जलाने से रोक दूँ तो मुझे धर्म होगा या पाप ? तब वह दयाहीन पुरुष कहने लगा कि जो कोई पुरुष मेरे हाथ जलाने से रोक देगा उसे

धर्म होगा क्योकि मेरी अन्तरात्मा यह कह रही है कि मेरे हाथ जलने से मुझे अत्यन्त दुःख होगा। इस लिए जो पुरुष इसे मेरे हाथ जलाने से रोक देगा उसे धर्म होगा। तब वह जिनधर्म का ज्ञाता पुरुष उस दयाहीन पुरुष से कहने लगा कि जब तुम अपने हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को धर्म होना मानते हो तो फिर जो पुरुष दूसरे जीवो के हाथ जलाने से रोकता है, उनके दु.खो को मिटाता है उससे तुम पाप क्यों मानते हो ? जिस प्रकार तुमको अपने प्राण प्यारे है उसी प्रकार समस्त जीवो को अपने अपने प्राण प्यारे हैं और जिस प्रकार तुम्हारे हाथ जलाने से तुम्हें दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे जीवो को भी दुःख होता है। जिस प्रकार तुम्हारा दुःख मिटाने वाले को तुम धर्म होना मानते हो उसी प्रकार जो दूसरे प्राणियो के दुःख को मिटाता है उसमे भी तुम्हे धर्म मानना चाहिए। दूसरे प्राणियो के दुःख को मिटाने मे पाप मानना कुबुद्धि है, यह कुबुद्धि दुःखदायिनी है। इसे छोड़ दो।

इस प्रकार समझाने पर सरल हृदय वाला पुरुष तो समझ कर शुद्ध रास्ते पर आ जाता है और अपना आत्म-कल्याण साध लेता है किन्तु जो पुरुष हठाग्रही होता है वह अपने हठ को नही छोड़ता। जिस प्रकार मूर्ख पुरुष पकड़ी हुई गधे की पूंछ को नहीं छोड़ता। वह गधे की लाते खाता हुआ अपने दाँत तुड़वाता है, मुँह फुड़वाता है और अत्यन्त दु.खी होता है इसी प्रकार जो हठाग्रही पुरुप अपने हठ को नहीं छोड़ता है वह यमदूतो (परमाधार्मिको) की लाते खाता हुआ और नरक की अनेक यातनाएँ सहन करता हुआ नरक निगोदादि मे अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है।

इसलिए मिथ्या हठ को छोड़ कर वास्तवि तत्त्व को समझ कर शुद्ध श्रद्धा ग्रहण करनी चाहिए। इसी से आत्मा I कल्याण होता है ॥९०-१०३॥

ारा ाथ ा ा ने ँ,
ते में तो धर्म बतावो जी।
औराँ रा राखे तो पाप बताओ,
ऐसी क्यों ति ावो ी ॥ चतुर० ॥ १०४ ॥

भावार्थः—उन लोगो से कहना चाहिए कि तुम्हारे हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को तुम धर्म होना मानते हो किन्तु दूसरे प्राणियो के हाथो को जलाने से रोकने वाले को तुम पाप होना क्यों मानते हो ? यह मति तुम्हे कहाँ से उत्प ई है ? इस मति का त्याग कर तुम्हे सुमति (सद्बुद्धि) ग्रहण करनी चाहिए और जिस प्रकार तुम्हारे हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को तुम धर्म होना मानते हो उसी प्रकार दूसरो के हाथ जलाने से रोकने वाले पुरुष को भी तुम्हे धर्म होना मानना चाहिए ॥१०४॥

जे जीव बचावा में पाप हे ँ,
ले ते ा अनन्तो ी।
ि ीत श्रद्धा रा फल है ोटा,
या गवन्तो जी ॥ च र० ॥ १०५ ॥

भावार्थः—जो जीवरक्षा मे पाप कहते हैं वे नन्त काल तक नरक निगोदादि गतियो मे परिभ्रमण करते हुए संसार पर्य

करते रहते है क्योंकि जीवरक्षा मे पाप बताना शास्त्रो से विपरीत श्रद्धा है। श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने विपरीत श्रद्धा का फल महान् दुःखदायी बतलाया है। इसीलिए 'जीवरक्षा' में पाप बताने वाला अनन्त काल तक नरक निगोदादि की असह्य यातनाएं सहन करता है ॥१०५॥

।धाँ रे ।जे छः ।या हणी ने,
जागा करे ै, त्यारो जी ।
दो ॅ, लींपे, छावे संभाले,
ते साधु करे इ त्यारो जी ॥ चतुर० ॥ १०६ ॥

नन्त जीवाँ री घात, हुई तिहाँ,
हर्ष से रे निवासो जी ।
पूछ्या थी कल्पनी बतावे,
वि लाँ रो जोवो तमाशो जी ॥ चतुर० ॥१०७॥

भावार्थ—उन भीषणमतानुयायी साधुओ के ठहरने के लिए उनके भक्त श्रावक मकान बनवाते है, उन्हे लीपते है, पुताते है, मरम्मत आदि करवाते है जिसमे पृथ्वी पानी वनस्पति आदि छः काया के अनन्त जीवो की हिसा होती है। उन मकानो मे वे साधु हर्षपूर्वक ठहरते है। उन मकानो के बनवाने मे छः काया के अनन्त जीवो की हिसा उन साधुओ के निमित्त होती है फिर भी पूछने पर वे साधु कहते है कि यह मकान तो कल्पनिक (निर्दोष) है। ये मकान हमारे निमित्त नही बनाये गये है। इस प्रकार वे असत्य भाषण करते हुए जरा भी नहीं शर्माते। यह अज्ञानी जीवो का तमाशा है ॥१०६-१०७॥

(हे) "ध रे रण हिंसा कीधां,
बोधबीज रो नाशो जी।"
ो धु काजे हिंसा करी ते,
ि ण घर में क्यों रो वासो जी॥ च० ॥ १०८॥

'पुरुषान्तकड' रो म लेई ने,
सेज्जान्तर धर्म बतावो जी।
धर्म रे जे हिंसा हुई यहां,
तेने मिथ्या क्यों न बतावोजी ॥ च० ॥ १०६ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते है कि जो पुरुष धर्म के निमित्त हिंसा करता है उसकी समकित का विनाश होता है तो उनसे (भीषणमतानुयायी साधुओ से) पूछना चाहिए कि जिसने छः काया के अनन्त जीवो की हिसा करके तुम्हारे लिए मकान तय्यार करवाया है उसे तुम मिथ्यात्वी क्यो नहीं कहते ? और तुम उस मकान मे क्यो ठहरते हो ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर कुछ नही आने के कारण वे कपटपूर्वक असत्य भाषण करते हुए कहते है कि—'यह मकान हमारे लिए नही बनवाया गया है, यह तो 'पुरुषान्तकड' है अर्थात् दूसरो के लिए बनवाया गया है। इसलिए हम इसमे ठहरते है। हमारे ठहरने से इस मकान बनवाने वाले मालिक को शय्यातर का धर्म होता है।"

इस प्रकार वे भीषणमतानुयायी साधु अपने निमित्त (साधु के निमित्त) बनाये हुए मकान मे ठहरते और पूछने पर कपट-पूर्वक असत्य भाषण करते है ॥ १०८–१०६ ॥

(कहे) "दर्शन धर्म रु हिंसा पाप में,
दोनों मानाँ न्याराजी ।"
(उत्तर) तो धर्मी वत लता धर्म में,
हिंसा पाप में धाराँ जी ॥ च० ॥ ११०॥

भावार्थः—वे लोग कहते है कि आरम्भादि होने के कारण स्वधर्मी वत्सलता मे हम पाप बताते हैं तब उनसे पूछा जाता है कि तुम्हारे (भी० साधुओं के) दर्शन करने के लिए तुम्हारे भक्त श्रावक आते है। उनके आने जाने मे हिंसा होती है तो तुम्हारी मान्यतानुसार तुम्हारे दर्शन भी पाप मे ठहरते हैं। इस पर वे लोग कहते है कि—आने जाने की क्रिया से होने वाली जीवहिंसा पाप में है और हमारा दर्शन धर्म मे है। श्रावकों के आने जाने की क्रिया और हमारे दर्शन दोनो पृथक् है।

तब सरल बुद्धि से उन्हे यह बात भी समझनी चाहिए कि आरम्भादि की हिंसा अलग है और स्वधर्मीवत्सलता अलग है। जिस प्रकार आने जाने की क्रिया के सावद्य होने पर भी दर्शन सावद्य (पाप मे) नही होते उसी प्रकार आरम्भादि के सावद्य होने पर भी स्वधर्मीवत्सलता सावद्य (पाप मे) नहीं हो सकती ॥११०॥

उ ड़े मुख बोली (थाँने) आहार मंत्रे,
खुले बो बेरावे ी।
जीव असंख्य हण्या तुम जे,
(इणमें) ध पाप सूं थावे जी ॥ च० ॥ १११ ॥

भावार्थः—उनसे (भीषण मतानुयायी साधु ो से) पूछना चाहिए कि—तुम्हारे भक्त श्रावक उघाड़े मुख से (वायुकाय की अयतना पूर्वक) बोलकर तुम्हे आहार पानी की आमन्त्रणा करते है और उघाड़े मु से बोल कर ही तुम्हे आहारादि बहराते (देते) है। इस प्रकार तुम्हारे निमित्त वायुकाय के असंख्य जीवो की हिंसा करके श्रावक तुम्हें दान देते हैं। वह दान धर्म मे है या पाप मे? ॥१११॥

हे) दान देवा रो तो धर्म है ोटो,
अजतना रो पाप में ँ जी।
(उत्तर) ो वत्स ता रो ो धर्म है ोटो,
आरम्भ पाप बखा ँ जी ॥ ० ॥ ११२ ॥

भावार्थः—तब वे लोग जवाब देते हैं कि हम साधु ों को दान देने से उस दाता को बड़ा धर्म होता है किन्तु उसके लिए उघाड़े मु बोलने से वायुकाय जीवो की जो अयतना (हिंसा) होती है वह पाप मे है।

तब सरल बुद्धि से उन्हे यह बात भी समझनी चाहिए कि आरम्भादि हिंसा पाप है किन्तु स्वधर्मी वत्सलता बड़ा धर्म है। जिस प्रकार उघाड़े मुख बोल कर वायुकाय के जीवों ी अयतना के सावद्य (पाप मे) होने पर भी दान पाप मे नही है उसी प्र र आरम्भादि के सावद्य होने पर भी स्वधर्मी-वत्सलता साव (पाप मे) नही हो सकती ॥११२॥

एवा नि ामों में,
ने धर्म बतावेजी।

अनुकम्पा उपकारे आरम्भ,
तो अनुकम्पा पाप में गावे जी ॥ च० ॥ ११३ ॥

भावार्थः—दर्शन, दान आदि उन लोगो से सम्बन्धित ऐसे अनेक कार्य है जिनमे धर्म कार्य को अलग धर्म मे और उसके लिए होने वाले आरम्भादि को अलग पाप । कहते हैं किन्तु अनुकम्पा और उपकारादि के कार्यों मे आरम्भ का नाम लेकर उन्हे एकान्त पाप मे बतलाते है। अनुकम्पा और उपकारादि के धर्म कार्य को अलग और उसके लिए होने वाले आरम्भ को अलग नही बतलाते किन्तु आरम्भ को अनुकम्पा के साथ जोड़ कर अनुकम्पा रूप परमधर्म को भी पाप मे ही बतलाते हैं। यह उनका पक्षपात पूर्ण हठाग्रह है। वे जिस प्रकार उनके दर्शन और दान को धर्म मे और दर्शन और दान के लिए होने वाले आरम्भ को पाप मे मानते है उसी प्रकार अनुकम्पा को धर्म मे और उसके लिए होने वाले आरम्भादि को पाप मे मानना चाहिए ॥११३॥

एकेन्द्रिय मरे पंचेन्द्रिय रक्षा,
(तिण में) एकान्त पाप सिखावे जी ।
एकेन्द्रिय मारी ने साधाँ ने देवे,
तिण ने तो धर्म बतावे जी ॥ च० ॥ ११४ ॥

भावार्थ—जिस कार्य मे एकेन्द्रिय (पानी, वनस्पति आदि) जीवो की हिसा से पञ्चेन्द्रिय (मनुष्य आदि) जीव की रक्षा होती है उस कार्य को वे लोग एकान्त पाप मे बतलाते हैं किन्तु उनके भक्त श्रावक एकेन्द्रिय (पानी, वनस्पति आदि) जीवो

की हिंसा करके उन्हें (साधुओं को) आहार पानी बहराते (देते) हैं उसमे वे महान् लाभ बतलाते हैं। जब वे एकेन्द्रिय की हिंसा से पंचेन्द्रिय जीव की रक्षा मे पाप मानते है तब साधुओं को आहार पानी देने से भी उन्हें पाप मानना चाहिए क्योंकि इससे भी तो एकेन्द्रिय (पानी वनस्पति आदि) जीवो की हिंसा से पंचेन्द्रिय जीवों की (साधुओ की) रक्षा होती है। उनके सिद्धान्तानुसार उनका साधुदान भी पाप मे ठहरता है ॥११४॥

: काया हणातो ाथे जावे,
(तिण ने) रस्ता री सेवा ब ावे जी ।
त्याग कराय ाथे ले जावे,
ध ॅरो ोभ दि वे जी ॥ च० ॥ ११५ ॥

निज ारथिया ा ार रा थीं,
भोलाँ ने र ावे जी ।
ाड़ी ोड़ा श र रे साथे,
माया उ ाया जावे जी ॥ च० ॥ ११६ ॥

स्वारथे हिंसा ाद आवे,
पर-उपकार में गावे जी ।
अठारे पाप रो नाम लेई ने,
मूर ने भर ावे जी ॥ च० ॥ ११७ ॥

भावार्थ:—एक ग्राम से विहार कर दूसरे ग्राम को जाते समय उन साधुओ के साथ रह कर रास्ते मे यथा समय मालमिष्टान्न आदि बना कर साधुओ को बहराना (देना) 'रास्ते की

सेवा' कहलाती है। 'रास्ते की सेवा' करने से धर्म का महान् लाभ होता है। इस प्रकार तेरहपन्थी साधु अपने अन्ध श्रद्धालु भक्तो को धर्म का लोभ दिखा कर उन्हें 'रास्ते की सेवा' का नियम करवाते है और उन्हे रास्ते मे अपने साथ रखते हैं। वे अन्ध श्रद्धालु भक्त छः काय जीवो की हिसा करते हुए गाड़ी, घोड़ा, बहुत से पैदल आदमियो को साथ लेकर इस तरह चलते हैं मानो कोई फौज चल रही हो। रास्ते मे छोटे गाँव मे जहाँ साधुओं को ठहराना होता है वहाँ पहुँच कर अपना पड़ाव डालते है और झटपट मिष्टान्न आदि माल तय्यार करते हैं। फिर उन साधुओ के पास जाकर कहते हैं "महाराज ! भावना भाते है।" अर्थात् आहार पानी सब तय्यार है। आप पधार कर ले आइये। इतना सुनते ही वे साधु अपने पातरे (पात्र) लेकर वहाँ पहुँच जाते हैं और इच्छानुसार मेवा मिष्टान्न आदि ले आते हैं।

इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' का महान् लाभ बता कर अपने अन्ध श्रद्धालु भक्तों को साथ रखते हैं जिससे रास्ते मे आहार पानी आदि की किसी प्रकार की तकलीफ नही उठानी पड़ती। इस प्रकार 'रास्ते की सेवा' मे धर्म बताने मे उन साधुओ का अपना निजी स्वार्थ है। इसमे होने वाली हिसा की तरफ वे ध्यान ही नही देते है किन्तु जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्य मे वे पाप बताने लगते है, एक पाप नही किन्तु जीवरक्षा और परोपकार के कार्य मे एक साथ हिसा, झूठ, चोरी मैथुन आदि अठारह पाप होना बतलाते है ! अपने स्वार्थ की पूर्ति मे होने वाली जीवहिंसा की तरफ ध्यान न देकर उसको धर्म बताना और जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्यों मे पाप बताना स्वार्थी लोगों का कार्य है ॥११५-११७॥

(कहे) ारम्‍ लागां उप र हुवे तो,
भूठ चोरी थी पिण हो ी जी ।
अठारे ही पों रो ब ावे,
ते र-उ ार रोषी ी ॥ च० ॥ ११८ ॥

भावार्थः—वे लोग कहते हैं कि—" ारम्भ लग कर जीवरक्षा आदि जो उपकार होता है उसमे यदि धर्म माना जायगा तो भूठ बोल कर, चोरी करके, व्यभिचार सेवन करके जो उपकार किया जायगा उसमे भी धर्म मानना पड़ेगा" इस प्रकार अठारह ही पापों का नाम लेकर वे लोग जीवरक्षा एवं परोपकार के कार्यों मे पाप बतलाने की धृष्टता करते है। वे जीव-रक्षा एवं परोपकार के द्वेषी हैं ॥११८॥

(उत्तर) चोरी री ारा दर्श ातिर,
कुड़ी ा भरी ावे जी ।
तिण थी थारो दर्श ी ा,
ारी ा ावे जी ॥ ० ॥ ११९ ॥

ारम्‍ ो दर्शण ाजे,
तिण ने ो ी।
तो चोरी ीरा थी ां,
ि में दि वो जी ॥ च० ॥ १२० ॥

भावार्थः—तेरहपन्थी साधुओ के भ श्रावक घोड़ा-गाड़ी, रे गाड़ी आदि में बैठ कर उनके दर्शन करने के लिए

आते हैं। इससे आरम्भ होता है फिर भी वे (साधु) लोग दर्शन करने मे धर्म मानते है। तब, जैसा कि उन्होंने जीवरक्षा के विषय मे कहा है, उस कथनानुसार उनसे (तेरह पन्थी साधुओं से) पूछना चाहिए कि—यदि कोई पुरुष तुम्हारे दर्शन के निमित्त चोरी करके, या झूठी साक्षी देकर धन लावे अथवा कोई स्त्री व्यभिचार सेवन करके धन लावे और फिर उस धन से टिकिट खरीद कर तुम्हारे दर्शन करने आवे और उसी धन से मिष्टान्नादि बना कर तुम्हे बहरावे तो इसमे भी तुम्हे धर्म मानना पड़ेगा ॥११६-१२०॥

(कहे) चोरी, ारी, खोटी गवाही,
दर्श अर्थी न सेवे जी।
ारम्भ विन तो आइ न `,
ारम्भ र दर्श लेवे जी ॥ च० ॥ १२१ ॥

(उत्तर) उपकार में तुम इमहिज जाणो,
उपकारी चोरी न सेवे ाी।
कुड़ी सा व्यभिचार पाप ने,
उपकारी तज देवे जी ॥ च० ॥ १२२ ॥

इमहिज जीवरक्षा में जा ाो,
चोरी आदिक नहीं सेवे जी,
पारम्भ विन रक्षा न हो तो
आरम्भ ने आरम्भ केवे जी ॥ च० ॥१२३ ॥

आरम्भ उ र जु ा जुआ छै,
इमहिज रक्षा जाणो जी ।
उप ार रक्षाधर्म रो अंग,
आरम्भ लग पिछाणो जी ॥च० ॥ १२४ ॥

भावार्थ —इस पर यदि वे लोग यह कहे कि हम साधुओ के दर्शन की इच्छा रखने वाला (दर्शनार्थी) पुरुष खोटी साक्षी, चोरी, जारी आदि का सेवन नहीं करता किन्तु रेलगाड़ी आदि के बिना तो वह आ नहीं सकता इसलिए आने जाने की क्रिया का आरम्भ करके वह आता है और साधु-दर्शन का लाभ लेता है तो उन लोगो से कहना चाहिए कि जिस प्रकार तुम लोग पने दर्शनार्थी पुरुष के विषय मे मानते हो उसी प्रकार जीव-रक्षा और परोपकार करने वाले दयालु एवं परोपकारी पुरुष के विषय में भी समझना चाहिए कि जीवरक्षा और परोपकार करने वाला दयालु और परोपकारी पुरुष खोटी साक्षी, चोरी, जारी आदि कार्य नहीं करता किन्तु जिस प्रकार आने जाने की ि या के आरम्भ बिना दर्शनार्थी पुरुष दर्शन का लाभ नहीं ले सकता उसी प्रकार यदि अल्पारम्भ के बिना जीवरक्षा का महान् कार्य न हो सकता हो तो उस दयालु पुरुष को लाचारीवश उस अल्पारम्भ का सेवन करना पड़ता है किन्तु वह उस आरम्भ को ारम्भ समझता है । परोपकार और जीवरक्षा रूप धर्म अलग है और आरम्भ अलग है । जिस प्रकार आने जाने की क्रिया के सावद्य होने पर भी दर्शन सावद्य (पाप मे) नहीं होता उसी प्रकार परोपकार और जीवरक्षा के निमित्त होने वाले अल्पारम्भ के सावद्य होने पर भी परोपकार और जीव रक्षा रूप धर्म सावद्य (पाप मे) नहीं होता है ॥१२१-१२४॥

जिन मारग की नींव है रक्षा,
खोजी हुवे ते पावे जी।
जीव बचाया धर्म है निरमल,
दधि मथियां घी आवे जी ॥ च० ॥ १२५ ॥

भावार्थः—जीवरक्षा करना जैनधर्म की नींव है क्योंकि प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार मे कहा गया है किः—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया कहियं"

अर्थात्‌:—समस्त जगत्‌ के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान्‌ ने प्रवचन फरमाये है।

श्री तीर्थङ्कर भगवान्‌ ने यह पाठ फरमा कर यह बतला दिया है कि जैनागमो की रचना का मूल कारण 'जीवरक्षा' है अर्थात्‌ जीवरक्षा रूप निर्मल धर्म के लिए ही जैनागमो की रचना हुई है। जिस प्रकार दही को मथने से मक्खन निकलता है उसी प्रकार जो पुरुष जिज्ञासु बन कर जैनागमो का मथन करता है अर्थात्‌ जैनागमो का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करता है वही पुरुप जीवरक्षा रूप परमधर्म के रहस्य को जान सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को जीवरक्षा के निर्मल धर्म रूप मक्खन की प्राप्ति के लिए जैनागमो का सतत अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए ॥१२५॥

जीवरक्षा में पाप बतावे,
ते जल में लाय लगावे जी,

मृत थी मरणो होई केवे,
ते मिथ्यावादि हावे जी ॥ च० ॥ १२६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार अमृत से मरण कहने वाला और जल मे लाय गाने वाला पुरुष मिथ्यावादी एवं मूर्ख कहलाता है उसी प्रकार जीवरक्षा मे पाप बताने वाला पुरुष भी मिथ्यावादी है ॥१२६॥

जीवरक्षा श्री जिनजी री वाणी,
दसमें अङ्ग ा ी जी ।
ो करसी व र तिरसी,
वंछित दा ी जी ॥ च० ॥ १२ ॥

भावार्थः—जीवरक्षा श्री तीर्थ र भगवान् की वाणी है। दसवें अङ्ग श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र मे जीवरक्षा का बहुत वि तार के साथ वर्णन किया गया है और जीवरक्षा के ब त गुण वर्णन किये गये हैं। जीवरक्षा इहलौकिक और पारलौकिक सब सुखों की देने वाली है। इसके साठ नाम बताये गये हैं जिसमे इसे 'मोक्षदायिनी' बतलाया गया है। जीवरक्षा की आराधना करने वाला व्यक्ति संसार सागर को पार कर मोक्ष सु को प्राप्त करता है ॥१२७॥

ीसे यासी संवत् में,
सुदी ादव एकाद ी जी ।
ढा जोड़ी रक्षा दीपावणी,
तिमिर मिटावण रश ी जी ॥ च० ॥ १२८ ॥

मालचन्द को री रे मरे,
चूरू कियो चौमासो जी।
कोठारयां शुद्ध श्रद्धा धारी,
पामी ज्ञान प्रकाशो जी।
रक्षाधरम श्री िनजी री ाणी ॥ च० ॥ १२६ ॥

भावार्थ:—ग्रन्थकर्त्ता श्रीमज्जवाहिराचार्य फरमाते हैं कि—सम्वत् १६८६ का चतुर्मास बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू शहर मे मालचन्दजी कोठारी के कमरे मे किया था। तब अज्ञानान्धकार को मिटाने वाली और शुद्ध सत्य को प्रकाशित करने वाली एवं रक्षा धर्म को दीपाने वाली यह ढाल भाद्रपद शुक्ला एकादशी के दिन पूर्ण की गई है। शुद्ध सत्य रूप ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करके चूरू के कोठारी परिवार ने शुद्ध श्रद्धा ग्रहण की है।

जीवरक्षा के कहाँ तक गुण वर्णन किये जायँ ? इसके अनेक गुण हैं। उन सबका वर्णन किया जाना सम्भव नही है। अन्त मे श्री तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा फरमाये हुए एक वाक्य का उद्धरण देकर इस ग्रन्थ को पूर्ण किया जाता है। वह वाक्य ही इस ग्रन्थ का अन्तिम मङ्गल रूप होगा। वह वाक्य यह है:—

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं"

अर्थात्:—समस्त जगत् के जीवो की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन फरमाये हे। जीवरक्षा तीर्थ र भगवान् की वाणी है, जीवरक्षा समस्त जैनागमो की मूलरचना का कारण

है और जीवरक्षा ही समस्त जैनागमों का सार है। जीवरक्षा की शुद्ध आराधना करने वाला व्यक्ति संसार सागर को पार कर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१२८-१२९॥

॥ इति नवमी ढाल सम्पूर्ण ॥



ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!